जैन भारती

वर्ष 48 • अंक 12 • दिसम्बर, 2000

With best compliments from :

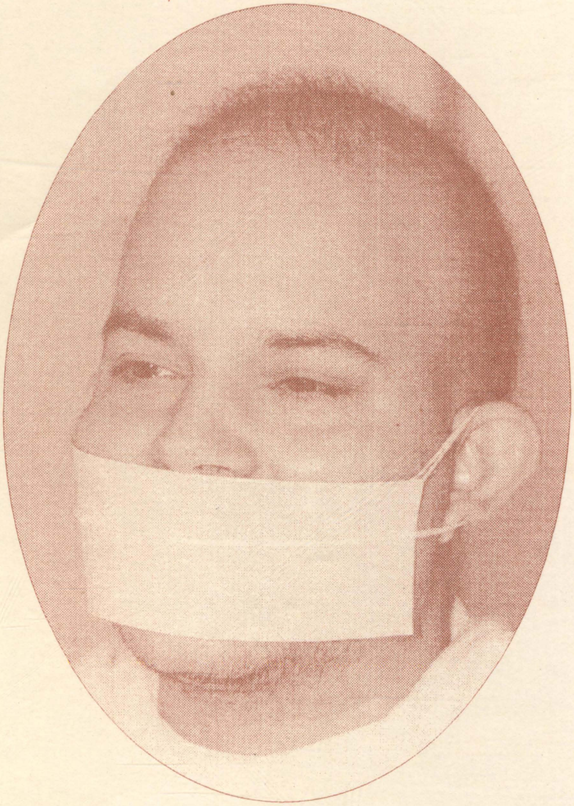

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बछराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

दिसम्बर, 2000 | वर्ष 48 | अंक 12 | रु. 15.00

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
कर्मशास्त्र और मनोविज्ञान

17
डॉ. एस. आर. व्यास
सहभागितापूर्ण अस्तित्व

21
प्रो. टी. भट्टाचार्य
अनेकांतवाद और न्याय की अवधारणा

•
आवरण
अडिग
एवं
दीपचन्द

अनुभूति

25
आचार्यश्री तुलसी
लक्खण नहिं पलटै लाखां

29
डॉ. इन्द्रचन्द्र शास्त्री
जैन धर्म का केंद्र-बिंदु

32
मुनि मदनकुमार
भिक्षुकाल के प्रभावक अनशन

36
कहानी
रांगेय राघव
गूंगे

40
कविता
राजेन्द्र उपाध्याय की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
इतिहास के पन्नों में

शीलन

43
साध्वी मुदितयशा
श्रद्धा : जड़ों का अभिसिंचन

46
साध्वी श्रुतयशा
कालचक्र और जेनरेशन-गेप

50
बालकथा
आर. के. नारायण
परीक्षा से पहले

55
जैन भारती पाठक पहेली

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

'आदमी-आदमी के भीतर विश्वास जिस रिश्ते से जुड़ता है, वह रिश्ता ही तो अध्यात्म है। सबसे ऊंची प्रेमसगाई, वह सगाई न हो तो बौद्धिक स्तर पर किए गए सभी मतों के, सभी मजहबों के और सभी रेलीजनों के तुलनात्मक विवेचन मात्र से काम नहीं चलता। राम-रहीम की एकता से काम नहीं चलता। राम-रहीम तब एक होते हैं जब राम जपने वाला, रहीम जपने वाले के भाव को समझता है और उसकी बेखुदी को समझता है, अपने राम से वैसी बेखुदी पाना चाहता है, जो दूसरे को रहीम से मिल रही है, वह राम को पाना चाहता है, पर रहीम के साथ गहरे जुड़ाव रखने वाले भाई की तल्लीनता अपने में भर कर।

इसलिए संप्रदाय धर्म का आवश्यक अभिलक्षण है, और यह अभिलक्षण मांग करता है कि धर्म कभी दृष्टि से ओझल न हो। बराबर सामने रहे कि हमें अपना संप्रदाय प्रिय लगता है, अपना घर अच्छा लगता है, बार-बार यहां लौटने की इच्छा होती है तो दूसरे को भी अपना घर अच्छा लगता है। हम दूसरे से जुड़े हैं इसलिए कि हम दोनों को घरों से लगाव है, घरूपन से दोनों का सरोकार है। निघर जड़हीन लोग जैसा भी सोचें पर घर वाला किसी घर की बरबादी की बात नहीं सोचेगा। इसलिए संप्रदाय रहें। संप्रदाय धर्म के व्यापक परिचालन के लिए रहें, धर्म के लिए रहें, धर्म की प्रतीति के लिए रहें और मनुष्य के भाव की आस्तिकता को प्रमाणित करने के लिए रहें। तब संप्रदाय एक-दूसरे के विरोधी नहीं होंगे, संप्रदाय संप्रदाय के प्रतिस्पर्धी नहीं होंगे, संप्रदाय संप्रदाय के रस्मी तौर पर हमराही या फेलो ट्रेवेलर भी नहीं होंगे। वे बस होंगे, विशाल होने के प्रवाह में सहायक, प्रेरक और नियामक। अलग दिखना, अलग पहचाना जाना अच्छी बात है, बुरी बात नहीं, पर अलग होना, अलग होने की कोशिश करना अशुभ है, अमंगल है।'

—पं. विद्यानिवास मिश्र

'देश, धर्म और साहित्य' से

जो व्यक्ति जैन-दर्शन की व्याख्या को अक्षरशः न माने, उसमें वैराग्य और सदाचार की भावना नहीं जागती—यह मानना दुराग्रह की चरम सीमा है। जैन-दर्शन सचमुच ही धर्म की अखंडता को स्वीकार करता है। संप्रदाय धर्म को विभक्त नहीं कर सकते। दृष्टिकोण तब सम्यक् हो जाता है जब ज्ञान, चारित्र और तप की सम्यक् आराधना होती है और तब व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेता है, भले फिर वह किसी भी वेष या संप्रदाय में हो। इसके प्रमाण गृहलिंग सिद्ध और अन्यलिंग सिद्ध हैं। सम्यक् दर्शन, चारित्र आदि की पूर्णता प्राप्त होने पर गृहस्थ के वेष में भी और जैनेतर संप्रदाय में भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है। जैन-आगमों में 'असोच्चा' केवली का वर्णन है। जिस व्यक्ति को धर्मोपदेश सुनने का अवसर नहीं मिला, किंतु सहज भाव से ही सरलता, क्षमा, संतोष आदि आराधना करते-करते जो भावना बल से सम्यक् दर्शन, चारित्र पाकर मुक्त हो जाता है, उसके क्रमिक विकास का हेतु धर्म की आराधना है, संप्रदाय विशेष का स्वीकार नहीं।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

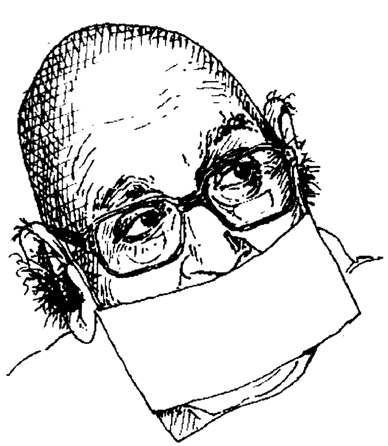

साधना के उपक्रम में शरीर का बहुत महत्त्व है। जिस प्रकार सोपान पर चढ़े बिना ऊपर की मंजिल में जाना असंभव है, उसी प्रकार शरीर को साधे बिना आत्म-साधना संभव नहीं है। तर्क हो सकता है कि लिफ्ट मिल जाए तो सोपान का क्या करना है? सीधी छलांग भरी जा सकती है। पर यह भी तो सोचने की बात है कि लिफ्ट किसे-किसे उपलब्ध होती है? वह उपलब्ध हो भी जाए और बीच में ही बिजली चली जाए तो त्रिशंकु बनकर रहना पड़ता है। इसी प्रकार आत्म-साक्षात्कार का सीधा रास्ता भी किसी-किसी को मिल सकता है, पर बीच में कोई अवरोध उपस्थित होने पर उसे तोड़ने के लिए कौन आएगा?

बाहुबली सीधा आत्म-साक्षात्कार करना चाहते थे। उनकी साधना भी विशिष्ट थी, किंतु अवरोध ऐसा आया कि तट तक पहुंचकर भी वे आगे न बढ़ सके। साध्वी ब्राह्मी और सुंदरी ने उनको प्रतिबोध दिया। बाहुबली ने अवरोध का कारण समझा। वे संभले और अवरोध समाप्त हो गया। कैवल्य की ज्योति से उनका कण-कण आलोकित हो उठा। किंतु न तो सब बाहुबली होते हैं, न उन्हें ब्राह्मी-सुंदरी का योग ही मिलता है और न ही वे सीधी छलांग भर सकते हैं। इसलिए एक निश्चित विधि और प्रक्रिया के सहारे ही साधक को आगे बढ़ना चाहिए।

—आचार्यश्री तुलसी

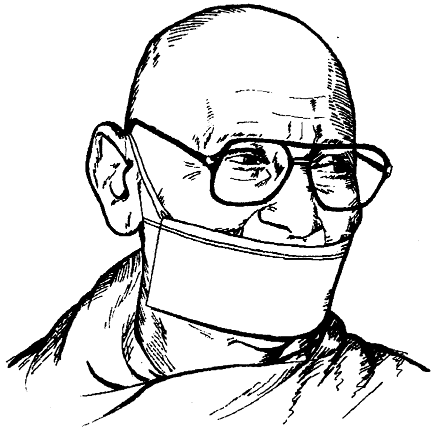

अंतर्दृष्टि से संपन्न व्यक्ति भी अप्रिय आचरण कर लेता है। समत्व की प्रज्ञा जाग जाने पर भी व्यक्ति अवांछनीय आचरण कर लेता है। यह तब तक करता है जब तक कि प्रमाद उस पर हावी होता है। किंतु महावीर ने कहा—समत्वदर्शी पाप नहीं करता। इसकी संगति कैसे होगी? इसका भी एक रहस्य है। या तो यह बात उस भूमिका पर कही गई है जहां समत्व अपने चरम शिखर पर पहुंच जाता है। समत्व का चरम शिखर है—वीतरागता। समत्व का प्रारंभ होता है संतुलन से और चरम परिणति होती है वीतराग में। एक है उपत्यका और एक है अधित्यका। उपत्यका तलहटी है और अधित्यका पर्वत का ऊपरी भाग है। जैसे हिमालय की तलहटी है तो उसका शिखर भी है। तलहटी भी हिमालय है, तो शिखर भी हिमालय है। तलहटी हिमालय नहीं है, केवल शिखर ही हिमालय है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। समत्व की तलहटी भी समत्व है और समत्व का शिखर भी समत्व है। समत्व की तलहटी है संतुलन और समत्व का शिखर है वीतरागता। दोनों समत्व हैं। महावीर ने जो कहा कि समत्वदर्शी कोई पाप नहीं करता, इसका आशय है कि जो साधक समत्व की चोटी वीतरागता पर पहुंच चुका है, वह कोई पाप नहीं करता। जो उस शिखर पर चढ़ने की तैयारी कर रहा है, जो अभी तलहटी पर ही खड़ा है, वह पाप नहीं करता, इसका इतना-सा तात्पर्य हो सकता है कि उस साधक के मन में पाप न करने का संकल्प जाग जाता है। उस संकल्प के साथ उसकी यात्रा प्रारंभ होती है। वह आरोहण प्रारंभ करता है। आरोहण करते-करते एक दिन वह समस्त बाधाओं को चीर कर समत्व के शिखर पर पहुंच जाता है। वीतरागी बन जाता है। वहां पहुंचकर फिर वह कभी पाप नहीं करता। सारी पापमय प्रवृत्तियां छूट जाती हैं।

समत्व की प्रज्ञा जाग जाने पर हमें एक बोध मिलता है कि हमने ध्यान और धारणा के द्वारा समत्व की प्रज्ञा को जगा लिया है। अनुप्रेक्षा, भावना और ध्यान से अंतर्दृष्टि के साथ-साथ समत्व की प्राप्ति भी कर ली, किंतु शिखर अभी भी दूर है। हम शिखर के अभिमुख अवश्य हुए हैं, पर शिखर पर पहुंचे नहीं हैं। यात्रा चालू है। आरोहण चालू है। मार्ग लंबा है। हमें निरंतर चलना है। इसलिए ध्यान की धारा निरंतर चलती रहे, यह अभ्यास सतत चालू रहे और तब तक चालू रहे, जब तक कि हम समत्व के शिखर पर न पहुंच जाएं और वहां पहुंचकर हम विजय की ध्वजा न फहरा दें।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

इतिहास के पन्नों में

इतिहास के पन्नों में पुरखों की तलाश क्या महज तर्पण के लिए ही की जाती है? इतिहास के पन्नों से अनागत के संकेत मिलें, वर्तमान व भविष्य का मार्ग प्रशस्त हो और जीवन की दुरूहता सहज-सरल बने—यही इतिहास का वास्तविक अभीष्ट है। इतिहास का महत्त्व भी इसी में है और इसीलिए इतिहास में झांकना अपने आगे के मार्ग को प्रशस्त करना माना जाता है। इस दृष्टि से बीत रहे इस वर्ष (ईसवी 2000) को 'सलाम' करने के साथ-साथ हमें थोड़ा प्रक्षालन भी करना चाहिए और देखना चाहिए कि बीता वर्ष 'अनागत' के कौन-से संकेत दे रहा है?

इस ताबड़तोड़ जिंदगी में जिस जीव की सांस सबसे अधिक फूल रही है—वह मनुष्य ही है, जो अपने ही किए से बेदम है। इस जगत का सबसे अधिक विचारशील और प्रज्ञावान प्राणी भी यही है। इसी के करतब-करतूतों ने विषमता, उकताहट और जहालत पैदा की है। यही वह प्राणी है जिसमें इतिहास छिपा है, जिससे इतिहास बनता है, जो इतिहास बुनता है, पर उसमें झांकता नहीं है। किए पर पछताता कम है और जो क्षणभंगुर उपलब्धियां हैं उन्हें महान बता-बता कर प्रलाप अधिक करता है। यह कटु सचाई है तो यह भी शाश्वत सत्य है कि इस प्राणी जगत में से मनुष्य नाम के जीव को यदि हटा दिया जाए तो शेष बचा रह कर भी क्या बचा रहेगा और जो बचा रहेगा उसका अस्तित्व कौन आंकेगा? जाहिर है सारे ध्वंस का दायी मनुष्य को मान लेने पर भी उसका विलगाव प्रकृति का श्रीहीन होना ही होगा। जिन हाथों से श्रीसंपन्नता व्यापती है, वे सबल 'हाथ' भी मनुष्य के ही हैं।

इन सबल हाथों की सही दिशा तय होने में इतिहास के संकेत सहायक हो सकते हैं। इतिहास एक संकेत देता है—**समो य सव्व भूएसु, समो निंदापसंसासु, पुढ़वि समे मुणी हवेज्जा**—प्राणी मात्र के प्रति समभाव, निंदा-प्रशंसा में समता और विपरीत स्थिति में पृथ्वी के समान धैर्य—यह शाश्वत संकेत आज ही के लिए दिया गया प्रतीत होता है। सामान्य-से लगने वाले इन वचनों में समूची विषमता और असंतुलन को

समाप्त कर देने का सूत्र छिपा है। लेकिन जिस दौड़ से समाज गुजर रहा है और अनंत लालसाओं के जिस मक्कड़जाल में मनुष्य फंसा है उसमें सब प्राणियों के प्रति समभाव और निंदा-प्रशंसा में समता रख लेने जैसी बात का महत्त्व आदर्श स्थिति के रूप में कहने भर तक ही सीमित है। असल स्थिति में यह जीवन-व्यवहार का अंग नहीं बन पा रहा है। हमारे ऋषि-महर्षियों के आप्त-वचन कभी भी निरर्थक नहीं माने गए। बेशक समय के साथ उन्हें जीवन-व्यवहार में ले आना अवश्य दुस्तर रहा है। तभी तो हर युग के महापुरुषों ने उन आप्त-वचनों को आधार बना कुछ उपाय सुझाए हैं जिनके बल पर व्यक्ति उनका अनुगमन कर सकता है। वर्तमान में आचार्यश्री महाप्रज्ञ ऐसे कुछ प्रयोगों का जिक्र करते हैं जो मनुष्य की अंतःस्रावी ग्रंथियों को प्रभावित करते हैं। माना जा रहा है कि इन प्रयोगों से समभाव और समता का प्रशिक्षण पाया जा सकता है। प्रश्न यही है कि इन प्रयोगों को व्यापक स्तर पर कैसे लागू किया जाए?

लगता है इसका एक बाधक-तत्त्व संप्रदाय विशेष से जुड़ा होना है, यद्यपि यह सर्वथा मिथ्या धारणा है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ जिन प्रयोगों के बल पर मनुष्य के मनोभावों को प्रभावित करने की बात करते हैं—उससे धर्म-संप्रदाय या उनसे जुड़े आचार-विचार का कोई संबंध नहीं है। अतः महज इसलिए कि इसके अन्वेषक एक धमाचार्य हैं—इन प्रयोगों को न देखना-समझना निरी संकीर्णता ही होगी। आचार्यश्री महाप्रज्ञ अपने इन प्रयोगों में—**'मैं सत्य को नमस्कार करता हूं'**—यह अवश्य कहते हैं। पर इसके लिए भी उनका आग्रह कभी प्रकट नहीं होता। सत्य क्या किसी दायरे में निबद्ध होकर परिभाषित हो सका है? वह 'सत्य' ही कैसा जो किसी चौखाने में जड़ा हो? सत्य के प्रति आग्रह न संकीर्णता है, न मिथ्या।

शिक्षा के क्षेत्र में क्रियात्मकता के साथ-साथ भावनात्मक विकास के स्तर पर जो विधियां आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अन्वेषित की हैं और देश के अनेक हिस्सों में उस पर जो प्रयोग होने लगे हैं—उन्हें बृहत्तर स्तर पर अत्यंत व्यवस्थित रूप से लागू करने की जरूरत है। इनके परिणामों की पड़ताल भी बेलाग होकर की जानी जरूरी है। तभी इन विधियों व प्रयोगों का उद्देश्य परिपुष्ट हो सकता है। ऐसा बिना किए यदि इन पर कोई टिप्पणी होती है तो इसे विचार और व्यवहार का खुलापन नहीं माना जा सकता।

विचार और व्यवहार के स्तर पर जिस खुलेपन की बात की जाती है, हकीकत में ऐसी बात करने वाले भी अन्य विचारों के प्रति उतने ही उदार, सहिष्णु और ग्रहणशील कहां रह पाते हैं? ऐसा न रह पाने की जो संकीर्णता है वह भी इंगित होनी चाहिए। वैसी संकीर्णता से मुक्त हो जाने से ही विचार और व्यवहार का व्यापक लाभ सामाजिक स्तर पर हासिल हो सकता है।

अपने इतिहास में झांकने और अपने वर्तमान व भविष्य को संवारने में संकीर्णता की आंख से देखने-समझने की जो चूक विगत में हो चुकी उसे आगे न दुहराई जाए—यह समय का तकाजा है। जो अनागत है उसके स्वर हम अपनी पीढ़ी की नई सांसों में सुन सकते हैं। जो बीत गया उसे बिसरा दें, पर जो सामने है उसे संवारने की महत्तर दृष्टि का विकास यदि हो जाए तो समता और समभाव का प्रादुर्भाव हो सकता है।

वे विचार और प्रयोग ही टिके रह सकते हैं जिनमें नवीनता या क्रांति-बीज वपन की क्षमता हो, अन्यथा धान के ऊपर के छिलके की माफिक ही उड़ा दिए जाते हैं। कोई भी विचार तब तक नवीन या क्रांतिकारी कैसे हो सकते हैं जब तक कि वे उसी विचारधारा या उसके नियंता से ही चिपटे हुए पड़े रहें। जिस विचारधारा में हमारा विश्वास है उसमें नवस्फुरणा लाना ही उसे आगे बढ़ाना है और उसे आगे बढ़ाना ही अपने पुरखों की तलाश व सही मानी में उनका तर्पण है। इस दृष्टि से इतिहास में झांकना ही सही अर्थों में इतिहास को समझना है।

दरअसल इतिहास घटनाओं का क्रमवार ब्योरा भर नहीं होता। वह अपने समय का सामाजिक अंकेक्षण भी होता है और विचार व व्यवहार के निर्माण की अभियांत्रिकी भी। इसीलिए इतिहास में अनागत के संकेत भी पाए जाने की बात कही जाती है। यही इतिहास का वास्तविक महत्त्व है।

अतः ईसवी वर्ष दो हजार की संध्या वेला में अगले वर्ष के सुनहरे सूरज की कामना करते हुए विगत को प्रणाम।

—शुभू पटवा

विमर्श

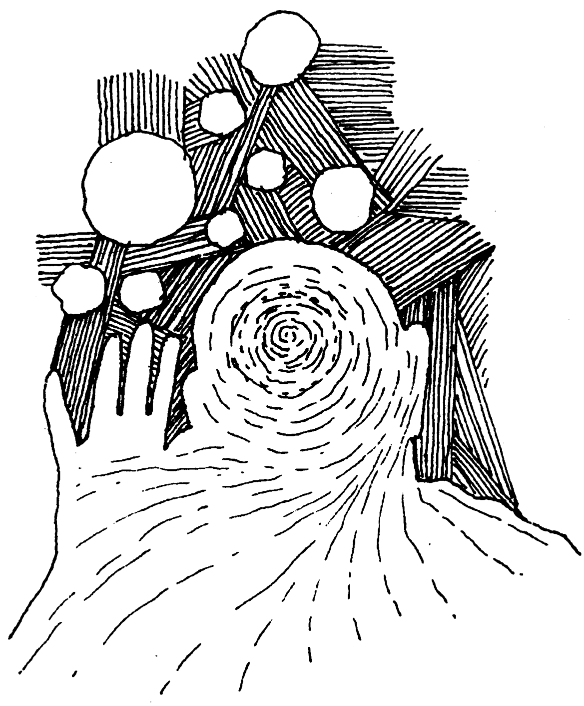

कुछ दिन पहले मुझे अपने एक हमपेशा मित्र का एक पत्र मिला था जिसमें उन्होंने किसी सुसंस्कृत स्कूल में अपनी पुत्री को मिलने वाली शिक्षा पर टिप्पणी की थी। उन्होंने मुझे कुछ उदासी के साथ लिखा था, 'उसे सिखाया गया है कि दो तरह के लोग होते हैं, कठोर और कोमल। उसके अध्यापक ने, जिसके विज्ञान का नाम मैं नहीं बताऊंगा, उसे बताया है कि कठोर स्वभाव वाले लोग ही जीवित रह पाएंगे।'

इस कथन ने मुझे विचलित कर दिया। मैं जानता था कि यह उस क्षेत्र के महान निस्वार्थ विद्वान की देन नहीं है, पर इससे उस रवैये का पता चलता था जिसका उत्तर चाहिए। उस उत्तर में ही मानव की समस्त विशिष्टता निहित है। मनुष्य के बचे रहने का मुख्य कारण कठोरता नहीं—मनुष्य के इस पक्ष को लेकर डार्विन तथा वैलेस जैसे बड़े-बड़े विकासवादी तक कठिनाई का अनुभव करते रहे हैं—बल्कि उसके बचे रहने का कारण उसके स्वभाव की कोमलता है। अपने दंभ में भले ही मनुष्य आज इस बात की डींग हांक ले कि जीत बलशाली की ही होती है और करुणा तथा स्नेह दुर्बलता के चिह्न हैं। फिर भी, ऐसे विचारों की व्यापक लोकप्रियता के बावजूद, सचाई यही है कि यदि मनुष्य भीतर से अपने जैसों के प्रति कोमल भाव रखने वाला प्राणी न होता, एक विचित्र रूप में विशिष्ट प्रकार से स्नेहशील प्राणी नहीं होता, तो बहुत समय पहले ही उसकी हड्डियां अफ्रीका के घास के मैदानों में भटकने वाले उन जंगली कुत्तों के हाथ लग चुकी होतीं, जहां मनुष्य ने पहलेपहल मानवीय बनने का महान साहसिक कार्य किया था।

—लोरेन आइजेले

मनोविज्ञान और मानसशास्त्र को लेकर बौद्धिक जगत में अलग-अलग मत और उन पर गहन चिंतन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है, लेकिन अध्यात्म और विशेषकर कर्मशास्त्र के साथ इसकी तुलना व विश्लेषण बहुत कम हुआ है। भारतीय मनीषा के शलाका पुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने धर्म व अध्यात्म के साथ कई अनछुई ज्ञान-धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन्हीं में से एक है कर्मशास्त्र और मनोविज्ञान। प्रस्तुत आलेख में आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने इन दोनों ज्ञान विधाओं का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए अपना मत रखा है कि दोनों का साथ-साथ अध्ययन किया जाए तो इनकी अपूर्णता को भी समझा जा सकता है और अनेक अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर मिल सकते हैं, कई गुत्थियां सुलझ सकती हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ मानते हैं कि सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और स्थूल शरीर की पहचान व वहां तक पहुंचना उन परमाणुओं को समझ लेना है जो सारी घटनाओं के लिए जिम्मेदार हैं। वे कहते हैं—उनको समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है, उनका क्षय करना भी जरूरी है। इस बिंदु तक पहुंचकर ही हम कर्मवाद को समझ सकते हैं, मनोविज्ञान को समझ सकते हैं। सुधी पाठकों के लिए यहां प्रस्तुत है यह गवेषणात्मक आलेख—

कर्मशास्त्र और मनोविज्ञान

• आचार्यश्री महाप्रज्ञ •

ज्ञान और अध्यात्म दो हैं। दोनों जरूरी हैं। ज्ञान के बिना अध्यात्म का ग्रहण नहीं किया जा सकता और अध्यात्म में उतरे बिना ज्ञान की शुद्धता नहीं हो सकती, ज्ञान का प्रस्फुटन नहीं हो सकता। ज्ञान अध्यात्म को बढ़ाता है और अध्यात्म ज्ञान को नए-नए उन्मेष देता है। पश्चिम के दार्शनिकों ने मन का काफी गंभीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने मन के विषय में अनेक खोजें की हैं, मन का पूरा विश्लेषण किया है। मनोविज्ञान की एक पूरी शाखा विकसित हो गई। प्रश्न होता है कि भारत के सत्यवेत्ताओं ने क्या मानसशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था? इस प्रश्न के उत्तर में हम दो शाखाओं—योगशास्त्र और कर्मशास्त्र पर ध्यान दें।

अध्यात्म का सही रूप

योगशास्त्र साधना की व्यवस्थित पद्धति है। इसके अंतर्गत मन का पूरा विश्लेषण, मन की सूक्ष्मतम प्रक्रियाओं का अध्ययन और उसके व्यवहार का बोध आता है। कर्मशास्त्र मन की गहनतम अवस्थाओं के अध्ययन का शास्त्र है। कर्मशास्त्र को छोड़कर हम मानसशास्त्र को ठीक व्याख्यायित नहीं कर सकते तथा मानसशास्त्र में जो आज अबूझ-गूढ़ पहेलियां हैं, उन्हें समाहित नहीं कर सकते और न अध्ययन की गहराइयों में जा सकते हैं। कर्मशास्त्र के गंभीर अध्ययन का मतलब है—अध्यात्म की गहराइयों में जाने का प्रयत्न। जो केवल अध्यात्म का अनुशीलन करना चाहते हैं, किंतु कर्मशास्त्र पर ध्यान देना नहीं चाहते, वे न अध्यात्म की गहराइयों को ही समझ सकते हैं और न वहां तक पहुंच ही सकते हैं। कर्मशास्त्र, योगशास्त्र तथा वर्तमान मानसशास्त्र—तीनों का समन्वित अध्ययन होने पर ही हम अध्यात्म के सही रूप को समझ सकते हैं और उसका उचित मूल्यांकन कर सकते हैं।

कर्मशास्त्र में शरीर-रचना से लेकर आत्मा के अस्तित्व तक, बंधन से लेकर मुक्ति तक—सभी विषयों पर गहन चिंतन और दर्शन मिलता है। यद्यपि कर्मशास्त्र के बड़े-बड़े ग्रंथ उपलब्ध हैं, फिर भी हजारों वर्ष पुरानी पारिभाषिक शब्दावली को समझना स्वयं ही एक समस्या है। जब तक

सूत्रात्मक परिभाषा में गुंथे हुए विशाल चिंतन को पकड़ा नहीं जाता, उसे परिभाषा से मुक्त कर वर्तमान चिंतन के साथ पढ़ा नहीं जाता और वर्तमान की शब्दावली में प्रस्तुत नहीं किया जाता, तब तक एक महान सिद्धांत भी अर्थशून्य ही रहता है।

कर्मशास्त्र : मनोविज्ञान

आज के मनोवैज्ञानिक मन की हर समस्या पर अध्ययन और विचार कर रहे हैं। मनोविज्ञान को पढ़ने पर मुझे लगा कि जिन समस्याओं पर कर्मशास्त्रियों ने अध्ययन और विचार किया था, मनोवैज्ञानिक भी उन्हीं समस्याओं पर अध्ययन और विचार कर रहे हैं। यदि मनोविज्ञान के संदर्भ में कर्मशास्त्र को पढ़ा जाए तो उसकी अनेक गुत्थियां सुलझ सकती हैं, अनेक अस्पष्टताएं स्पष्ट हो सकती हैं। कर्मशास्त्र के संदर्भ में यदि मनोविज्ञान को पढ़ा जाए तो उसकी अपूर्णता को समझा जा सकता है और अब तक अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर खोजे जा सकते हैं।

वैयक्तिक भिन्नता

हमारे जगत में करोड़ों-करोड़ों मनुष्य हैं। वे सब एक ही मनुष्य जाति से संबद्ध हैं। उनमें जातिगत एकता होने पर भी वैयक्तिक भिन्नता होती है। कोई भी मनुष्य शारीरिक या मानसिक दृष्टि से सर्वथा किसी दूसरे मनुष्य जैसा नहीं होता। कुछ मनुष्य लंबे होते हैं, कुछ बौने होते हैं। कुछ मनुष्य गोरे होते हैं, कुछ काले होते हैं। कुछ मनुष्य सुडौल होते हैं, कुछ भद्दी आकृति वाले होते हैं। कुछ मनुष्यों में बौद्धिक मंदता होती है, कुछ में विशिष्ट बौद्धिक क्षमता होती है। स्मृति और अधिगम क्षमता सबमें समान नहीं होती। स्वभाव भी सबका एक जैसा नहीं होता। कुछ शांत होते हैं, कुछ बहुत क्रोधी होते हैं। कुछ प्रसन्न प्रकृति के होते हैं, कुछ उदास रहने वाले होते हैं। कुछ निःस्वार्थ वृत्ति के लोग होते हैं, कुछ स्वार्थपरायण होते हैं। वैयक्तिक भिन्नता प्रत्यक्ष है। इस विषय में कोई दो मत नहीं हो सकते। कर्मशास्त्र में वैयक्तिक भिन्नता का चित्रण मिलता ही है। मनोविज्ञान ने भी इसका विशद रूप में चित्रण किया है। उसके अनुसार वैयक्तिक भिन्नता का प्रश्न मूल प्रेरणाओं के संबंध में उठता है। मूल प्रेरणाएं सबमें होती हैं, किंतु उनकी मात्रा सबमें एक समान नहीं होती। किसी में कोई एक प्रधान होती है तो किसी में कोई दूसरी प्रधान होती है। अधिगम क्षमता भी सबमें होती है, किसी में अधिक होती है और किसी में कम। वैयक्तिक भिन्नता का सिद्धांत मनोविज्ञान के प्रत्येक नियम के साथ जुड़ा हुआ है।

अज्ञात की ओर प्रस्थान

इस अज्ञात और सूक्ष्म व्यक्तित्व के साथ हमारा संपर्क स्थापित हो, जीवन की सफलता के लिए यह अत्यंत अपेक्षित है। वह व्यक्ति सफलता का जीवन नहीं जी सकता, जो केवल स्थूल शरीर के आधार पर सारे निर्णय लेता है। हमारे सामने परिस्थितियां हैं, आनुवंशिकता का प्रश्न है और वैयक्तिक प्रेरणाएं भी हैं। मनोवैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति के तीन आयाम हैं—आनुवंशिकता, पर्यावरण और व्यक्तिगत संस्कार। इसके साथ चौथा आयाम और जोड़ देना चाहिए। वह है कर्म। केवल इन तीनों आयामों से व्यक्तित्व की समग्र व्याख्या नहीं हो सकती। कर्म को जोड़ने पर ही समग्र व्याख्या की जा सकती है। आनुवंशिकता हमारे आचरण और व्यवहार को प्रभावित करती है, व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। इसी प्रकार पर्यावरण भी प्रभावित करता है, पर सारी बातें उसकी परिधि में नहीं आतीं। प्राणी के अपने 'जींस' हैं। उनमें जो निर्देश लिखित हैं, वे केवल आनुवंशिकता के आधार पर ही नहीं होते। उससे भी बड़ी बात एक और है। जो कर्म से जुड़ी है। आज के 'जीन' के सिद्धांत की तुलना यदि कर्म सिद्धांत से की जाए तो अनेक समस्याओं का समाधान प्राप्त हो सकता है। कर्म के सिद्धांत को चौथा आयाम या पहला आयाम माना जा सकता है। कर्म है तो आनुवंशिकता है, फिर पर्यावरण और फिर वैयक्तिक प्रेरणाएं। इन चारों के आधार पर यदि जीवन को समझने का

कर्मवाद की जो आंतरिक धाराएं हैं, उनके अनुसार ही स्थूल शरीर के सभी अवयवों का निर्माण होता है। यह स्थूल शरीर कर्म शरीर (सूक्ष्मतम शरीर) का संवादी शरीर है। जितनी प्रवृत्तियां, जितने प्रकंपन सूक्ष्म शरीर में होते हैं, उतने ही अंग, प्रत्यंग, अवयव इस स्थूल शरीर में बन जाते हैं। यह बिल्कुल संवादी है। जो भाव जन्म लेते हैं, वे सारे कर्म के द्वारा संचालित हैं और वे नए कर्म का पुनः निर्माण करते हैं। यह एक वर्तुल है। कर्म के द्वारा निषेधक भावों का उत्पन्न होना और इन निषेधक भावों के द्वारा फिर कर्म का आगमन होना—यह चक्र निरंतर चलता रहता है। जब तक यह चक्र नहीं तोड़ा जाता, इस चक्रव्यूह को नहीं भेदा जाता, तब तक समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

प्रयास किया जाए तो आदमी सफल हो सकता है और अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर सकता है।

'जीन' का सिद्धांत

विज्ञान के क्षेत्र में सोचा जा रहा है कि 'जीन' को बदलने का सूत्र हस्तगत हो जाए तो पूरे व्यक्तित्व को बदला जा सकता है। अध्यात्म के क्षेत्र में बहुत पहले सोचा गया था कि कर्म को बदलने का सूत्र हाथ लग जाए तो बहुत बड़ा काम हो सकता है। मैं समझता हूं, भाव इतना शक्तिशाली साधन है कि उससे कर्म को बदला जा सकता है, 'जीन' को बदला जा सकता है। जो व्यक्ति अनुप्रेक्षा का प्रयोग करना जानता है, जिसने भाव-परिवर्तन का प्रयोग किया है, वह अपने 'जींस' को भी बदल सकता है और कर्म को भी बदल सकता है। यह बदलने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के माध्यम से समूची चेतना का रूपांतरण किया जा सकता है और चेतना को नए रूप में प्रस्थापित किया जा सकता है।

जीवन और जीव

कर्मशास्त्रीय दृष्टि से जीवन का प्रारंभ माता-पिता के डिंब और शुक्राणु के संयोग से होता है किंतु जीव का प्रारंभ उनसे नहीं होता। मनोविज्ञान के क्षेत्र में जीवन और जीव का भेद अभी स्पष्ट नहीं है। इसलिए सारे प्रश्नों के उत्तर जीवन के संदर्भ में ही खोजे जा सकते हैं। कर्मशास्त्रीय अध्ययन में जीव और जीवन का भेद स्पष्ट है इसलिए मानवीय विलक्षणता के कुछ प्रश्नों के उत्तर जीवन में खोजे जाते हैं और कुछ प्रश्नों के उत्तर जीव में खोजे जाते हैं। आनुवंशिकता का संबंध जीवन से है, वैसे ही कर्म का संबंध भी जीव से है। उसमें अनेक जन्म के कर्म या प्रतिक्रियाएं संचित होती हैं, इसलिए वैयक्तिक योग्यता या विलक्षणता का आधार केवल जीवन के आदि-बिंदु में ही नहीं खोजा जाता, उससे परे भी खोजा जाता है, जीव के साथ प्रवहमान कर्म-संचय (कर्मशरीर) में भी खोजा जाता है।

मूल प्रवृत्तियां : संवेग

कर्म का मूल मोहनीय कर्म है। मोह के परमाणु जीव में मूर्च्छा उत्पन्न करते हैं। दृष्टिकोण मूर्च्छित होता है और चरित्र भी मूर्च्छित हो जाता है। व्यक्ति के दृष्टिकोण, चरित्र और व्यवहार की व्याख्या इस मूर्च्छा की तरतमता के आधार पर ही की जा सकती है। मेक्डूगल के अनुसार व्यक्ति में चौदह मूल प्रवृत्तियां और उतने ही मूल संवेग होते हैं—

मूल प्रवृत्तियां	मूल संवेग
1. पलायनवृत्ति	भय
2. संघर्षवृत्ति	क्रोध
3. जिज्ञासावृत्ति	कुतूहल भाव
4. आहारान्वेषणवृत्ति	भूख
5. पित्रीयवृत्ति	वात्सल्य, सुकुमार भावना
6. यूथवृत्ति	एकाकीपन तथा सामूहिकता का भाव
7. विकर्षणवृत्ति	जुगुप्सा भाव, विकर्षण भाव
8. कामवृत्ति	कामुकता
9. स्वाग्रहवृत्ति	स्वाग्रह भाव, उत्कर्ष भावना
10. आत्मलघुतावृत्ति	हीनता भाव
11. उपार्जनवृत्ति	स्वामित्व भावना, अधिकार भावना
12. रचनावृत्ति	सृजन भावना
13. याचनावृत्ति	दुख भाव
14. हास्यवृत्ति	उल्लसित भाव

कर्म विपाक : मूल संवेग

कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियां हैं और उनके अट्ठाईस ही विपाक हैं। मूल प्रवृत्तियों और मूल संवेगों के साथ इनकी तुलना की जा सकती है।

मोहनीय कर्म के विपाक	मूल संवेग
1. भय	भय
2. क्रोध	क्रोध
3. जुगुप्सा	जुगुप्सा भाव, विकर्षण भाव
4. स्त्री वेद	
5. पुरुष वेद	कामुकता
6. नपुंसक वेद	
7. अभिमान	स्वाग्रह भाव, उत्कर्ष भावना
8. लोभ	स्वामित्व भावना, अधिकार भावना
9. रति	उल्लसित भाव
10. अरति	दुख भाव

मनोविज्ञान का सिद्धांत है कि संवेग के उद्दीपन से व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है। कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म के विपाक से व्यक्ति का चरित्र और व्यवहार बदलता रहता है।

जटिल है मनुष्य की व्याख्या

प्राणी जगत की व्याख्या करना सबसे जटिल है। अविकसित प्राणियों की व्याख्या करने में कुछ सरलता हो सकती है। मनुष्य की व्याख्या सबसे जटिल है। वह सबसे

विकसित प्राणी है। उसका नाड़ी-संस्थान सबसे अधिक विकसित है। उसमें क्षमताओं के अवतरण की सबसे अधिक संभावनाएं हैं, इसलिए उसकी व्याख्या करना सर्वाधिक दुरूह कार्य है। कर्मशास्त्र, योगशास्त्र, मानसशास्त्र (साइकोलॉजी), शरीरशास्त्र (एनाटोमी) और शरीर क्रियाशास्त्र (फिजियोलॉजी) के तुलनात्मक अध्ययन से ही उसको कुछ सरल बनाया जा सकता है।

मानसिक परिवर्तन केवल उद्दीपन और परिवेश के कारण ही नहीं होते। उनमें नाड़ी-संस्थान, जैविक विद्युत, जैविक रसायन और अंतःस्रावी ग्रंथियों के स्राव का भी योग होता है। ये सब हमारे स्थूल शरीर के अवयव हैं। इनके पीछे सूक्ष्म शरीर क्रियाशील होता है और उनमें निरंतर होने वाले कर्म के स्पंदन, परिणमन या परिवर्तन की प्रक्रिया को चालू रखते हैं। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में कर्म के स्पंदन, मन की चंचलता, शरीर के संस्थान—ये सभी सहभागी होते हैं।

संज्ञा

हमारे जितने आचरण हैं, उनके पीछे हमारी दस प्रकार की चेतना काम करती है, दस प्रकार की चित्तवृत्तियां काम करती हैं। संज्ञा का अर्थ है—एक प्रकार की चित्तवृत्ति। जिसमें चेतन और अचेतन—दोनों मनों का योग होता है, कांशियस माइंड और सब-कांशियस माइंड—दोनों का योग होता है, उसे संज्ञा का संज्ञान कहते हैं।

ज्ञान ज्ञानावरण के विलय से होता है। ज्ञान की दृष्टि से जीव विज्ञ कहलाता है। संज्ञाएं दस हैं। वे कर्मों के सन्निपात-सम्मिश्रण से बनती हैं। इनमें कई संज्ञाएं ज्ञानात्मक भी हैं, फिर भी वे प्रवृत्ति-संवलित हैं, इसलिए शुद्ध ज्ञान-रूप नहीं हैं।

संज्ञा के प्रकार

संज्ञा के दस प्रकार ये हैं—

1. आहार 2. भय 3. मैथुन 4. परिग्रह 5. क्रोध 6. मान 7. माया 8. लोभ 9. ओघ 10. लोक।

संज्ञा की दृष्टि से जीव 'वेद' कहलाता है। इनके अतिरिक्त तीन संज्ञाएं और हैं—

1. हेतुवादोपदेशिकी 2. दीर्घकालिकी 3. सम्यक् दृष्टि।

कर्म को समझें

संज्ञा का स्वरूप समझने से पहले कर्म का कार्य समझना उपयोगी होगा। संज्ञाएं आत्मा और मन की प्रवृत्तियां हैं। वे कर्म द्वारा प्रभावित होती हैं। कर्म आठ हैं। उन सबमें 'मोह' प्रधान है। उसके दो कार्य हैं—तत्त्व-दृष्टि या श्रद्धा को विकृत करना और चरित्र को विकृत करना। दृष्टि को विकृत बनाने वाले पुद्गल 'दृष्टि-मोह' और चरित्र को विकृत बनाने वाले पुद्गल 'चारित्र-मोह' कहलाते हैं। चारित्र-मोह के द्वारा प्राणी में विविध मनोवृत्तियां बनती हैं, जैसे—भय, घृणा, हंसी, सुख, कामना, संग्रह, झगड़ालूपन, भोगासक्ति, यौन-संबंध आदि-आदि। आज का मनोविज्ञान इन्हें स्वाभाविक मनोवृत्तियां कहता है।

विकृत करता है मोह

मनुष्य में तीन एषणाएं हैं—

1. मैं जीवित रहूं। 2. धन बढ़े। 3. परिवार बढ़े।

और तीन प्रधान मनोवृत्तियां हैं—

1. सुख की इच्छा।
2. किसी वस्तु को पसंद करना या उससे घृणा करना।
3. विजयाकांक्षा अथवा नया काम करने की भावना।

ये सभी चारित्र-मोह द्वारा सृष्ट होते हैं। चारित्र-मोह परिस्थितियों द्वारा उत्तेजित हो अथवा परिस्थितियों से उत्तेजित हुए बिना ही प्राणियों में भावना या अंतःक्षोभ पैदा करता है, जैसे—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि। मोह के सिवाय शेष कर्म आत्म-शक्तियों को आवृत करते हैं, विकृत नहीं।

आहार संज्ञा—खाने की अभिलाषा वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होती है। यह मूल कारण है। उसको उत्तेजित करने वाले तीन गौण कारण और हैं—

1. रिक्त-कोष्ठता। 2. आहार के दर्शन आदि से उत्पन्न मति। 3. आहार-संबंधी चिंतन।

भय संज्ञा—भय की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है। भय की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं—

1. हीन-सत्त्वता। 2. भय के दर्शन आदि से उत्पन्न मति। 3. भय-संबंधी चिंतन।

मैथुन संज्ञा—मैथुन की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है। मैथुन की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं—

1. मांस और रक्त का उपचय। 2. मैथुन-संबंधी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति। 3. मैथुन-संबंधी चिंतन।

परिग्रह संज्ञा—परिग्रह की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है। परिग्रह की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं—

1. अविमुक्तता। 2. परिग्रह-संबंधी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति। 3. परिग्रह-संबंधी चिंतन।

इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ—ये सभी वृत्तियां मोह से बनती हैं। वीतराग आत्मा में ये वृत्तियां नहीं होतीं। ये आत्मा के सहज-गुण नहीं, किंतु मोह के योग से होने वाले विकार हैं।

ओघ संज्ञा—अनुकरण की प्रवृत्ति अथवा अव्यक्त चेतना या सामान्य उपयोग, जैसे—लताएं वृक्ष पर चढ़ती हैं, यह वृक्षारोहण का ज्ञान 'ओघ संज्ञा' है।

लोक संज्ञा—लौकिक कल्पनाएं अथवा व्यक्त चेतना या विशेष उपयोग।

आचारांग निर्युक्ति में चौदह प्रकार की संज्ञाओं का उल्लेख मिलता है—

1. आहार संज्ञा 2. भय संज्ञा 3. परिग्रह संज्ञा 4. मैथुन संज्ञा 5. सुख-दुःख संज्ञा 6. मोह संज्ञा 7. विचिकित्सा संज्ञा 8. क्रोध संज्ञा 9. मान संज्ञा 10. माया संज्ञा 11. लोभ संज्ञा 12. शोक संज्ञा 13. लोक संज्ञा 14. धर्म संज्ञा।

ये संज्ञाएं एकेंद्रिय जीवों से लेकर समनस्क पंचेंद्रिय तक के सभी जीवों में होती हैं।

संवेदन दो प्रकार का होता है—इंद्रिय संवेदन और आवेग। इंद्रिय-संवेदन दो प्रकार का होता है—1. सात-संवेदन—सुखानुभूति 2. असात-संवेदन—दुखानुभूति।

आवेग दो प्रकार का होता है—कषाय और नो-कषाय।

चित्तवृत्तियों का वर्गीकरण

दस प्रकार की संज्ञाओं (चित्तवृत्तियों) को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

पहला वर्ग—आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा।

दूसरा वर्ग—क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा, लोभ संज्ञा।

तीसरा वर्ग—लोक संज्ञा, ओघ संज्ञा।

पहला वर्ग

आहार संज्ञा—पहले वर्ग की मनोवृत्ति प्राणी मात्र में प्राप्त होती है। मानसशास्त्री जिसे भूख की मनोवृत्ति कहते हैं, उसे जैन आचार्य आहार संज्ञा कहते हैं। सबमें आहार संज्ञा होती है। उस संज्ञा के कारण प्रत्येक प्राणी आचरण करता है। हमारे आचरण का बहुत बड़ा भाग आहार संज्ञा से प्रेरित है।

भय की वृत्ति—हमारे बहुत सारे व्यवहार भय के कारण होते हैं। गाय कभी-कभी मनुष्य को देखते ही रौद्र रूप धारण कर लेती है। आदमी ने उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ा, गाय का काम भी किसी को चोट पहुंचाना या मारना नहीं है, फिर रौद्र रूप क्यों? इसका कारण है कि उसमें अनायास ही भय जाग गया। भय है आत्मरक्षा का। आत्मरक्षा में सबसे पहला आवेश भय जागृत होता है। डर लगता है कि मुझ पर कोई प्रहार न कर दे। भय जागते ही सारे शरीर में कंपन पैदा हो जाता है, तनाव पैदा हो जाता है। उसके पीछे भय की वृत्ति काम कर रही है।

मैथुन संज्ञा—मनोविज्ञान की भाषा में यह सेक्स की वृत्ति है। यह वृत्ति प्रत्येक प्राणी में होती है।

परिग्रह संज्ञा—यह संग्रह करने की मनोवृत्ति है। यह न मानें कि केवल मनुष्य ही संग्रह करता है। पशु भी संग्रह करते हैं। पक्षी भी संग्रह करते हैं। मधु-मक्खियां भी संग्रह करती ही हैं। छोटे-मोटे सभी प्राणी संग्रह करते हैं। जैन तत्त्वविदों ने यहां तक खोज की है कि वनस्पति भी संग्रह करती है। यह परिग्रह की मनोवृत्ति, छिपाने की मनोवृत्ति, संग्रह की मनोवृत्ति प्रत्येक प्राणी में होती है।

यह एक वर्ग है चार संज्ञाओं का।

दूसरा वर्ग

जो दूसरा वर्ग है चार संज्ञाओं का, चार चित्तवृत्तियों का, वह भी प्रत्येक प्राणी में प्राप्त है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसमें यह प्राप्त न हो। किंतु थोड़ा-सा अंतर है। मनुष्य में ये वृत्तियां जितनी विकसित होती हैं उतनी वनस्पति या छोटे प्राणियों में विकसित नहीं होतीं। किंतु इनका अस्तित्व अवश्य है। वनस्पति में क्रोध की संज्ञा होती है, मान की संज्ञा होती है, माया की संज्ञा होती है और लोभ की संज्ञा होती है। वनस्पति में चारों संज्ञाएं होती हैं। किंतु वे मनुष्य में जितनी स्पष्ट होती हैं, वनस्पति में उतनी स्पष्ट नहीं होतीं।

प्रथम वर्ग की चार वृत्तियों के कारण दूसरे वर्ग की ये चार वृत्तियां विकसित होती हैं, उभरती हैं। क्रोध पैदा होता है रोटी के कारण। रोटी और पैसे के सवाल पर लड़ाइयां होती हैं, झगड़े होते हैं। आहार क्रोध का कारण बन जाता है। कुत्ते को रोटी डाली। दूसरे कुत्ते आ गए। आपस में झगड़ने लगे। रोटी गुस्से का, झगड़े का कारण बन गई।

एक आदमी को अच्छी आजीविका प्राप्त है। वह अच्छे स्थान पर है। दूसरा उस स्थान पर आने का प्रयत्न करता है, पहले वाले की नौकरी छुड़वाने का प्रयास करता है। क्रोध प्रारंभ होता है। मनमुटाव होता है। कलह होने लगती है। यह आजीविका या आहार के कारण होता है।

एक व्यक्ति की आवश्यकताएं अच्छे ढंग से पूरी होती हैं। दूसरा उसे देखता है। उसकी आवश्यकताएं पूरी नहीं होतीं। पहले व्यक्ति के मन में अहंभाव आ जाता है। अहंकार सदा दूसरे को देखकर ही आता है। अपने से हीन व्यक्ति को देखकर दूसरे को अहंकार करने का अवसर मिलता है। यदि सामने हीनता न हो तो अहंकार को प्रकट होने का अवसर ही नहीं मिल पाता। कर्म के उदय से भी अहंकार का भाव अचानक जाग जाता है। यह आकस्मिक होता है। उन परमाणुओं का वेदन करना होता है। परंतु सामान्यतः अहंकार जागता है हीनता को सामने देखकर। दूसरे की हीनता पर अहंकार जागता है।

रोटी और आजीविका के लिए न जाने कितने लोग, किस प्रकार की माया का आचरण कर लेते हैं। माया जागती है। लोभ भी जागता है। धनार्जन के लिए कितने लोग किस प्रकार के लोभ का आचरण करते हैं। आहार की वृत्ति के कारण क्रोध आदि चार वृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है।

भय के कारण भी चारों वृत्तियां पनपती हैं। इसी प्रकार मैथुन और परिग्रह की वृत्ति के कारण भी ये चारों वृत्तियां पनपती हैं, व्यक्त होती हैं।

परिग्रह से क्रोध की वृत्ति जागती है, अहंकार तो उसके साथ है ही। जिसके पास अधिक संग्रह है, परिग्रह है, वह निश्चित ही अहंकारी बना रहेगा। माया की वृत्ति परिग्रह के कारण जागती है। लोभ परिग्रह से जुड़ा हुआ है।

प्रथम वर्ग की चित्तवृत्तियों में दूसरे वर्ग की चित्तवृत्तियों को जगाने की क्षमता है, उन्हें उभारने की क्षमता है।

समूह चेतना

तीसरा वर्ग है—ओघ संज्ञा और लोक संज्ञा। ओघ संज्ञा का अर्थ है सामुदायिकता की संज्ञा। मनुष्य में समूह की संज्ञा होती है, समूह की चेतना होती है, समूह में रहने की मनोवृत्ति होती है। मानसशास्त्री मेक्समूलर ने मनुष्य की एक वृत्ति का उल्लेख किया है। वह है यूथचारिता। इसका अर्थ है—समूह में रहने की मनोवृत्ति। इससे ओघ संज्ञा की तुलना की जा सकती है। पशुओं में भी यह चेतना है, मनुष्य में भी यह चेतना है। इसीलिए गांव बसा, नगर बसा, समाज बना। समाज में रहने की मनोवृत्ति और समाज का अनुकरण करने की मनोवृत्ति को सामुदायिक चेतना कहते हैं। हम कई बार लोगों को ऐसा कहते हुए सुनते हैं कि 'जो सबको होगा वह हमें भी हो जाएगा। क्या अंतर पड़ेगा? जब सब ऐसा काम करते हैं तो मैं क्यों नहीं करूं? जो परिणाम सबको होगा, वह मुझे भी हो जाएगा। मैं अकेला इससे वंचित क्यों रहूं? यह सामुदायिक चेतना की बात है। यह ओघ संज्ञा है। इसे यूथचारिता कहा जा सकता है।

वैयक्तिक चेतना

लोक संज्ञा वैयक्तिक चेतना है। प्रत्येक प्राणी में कुछ विशिष्टताएं होती हैं। इन विशिष्टताओं के कारण कुछ आचरण होते हैं। जो आचरण सामुदायिक चेतना के कारण नहीं होते, किंतु अपनी विशिष्टताओं के कारण होते हैं, वे वैयक्तिक चेतना के कार्य हैं। व्यापारी का लड़का व्यापारी, सुनार का लड़का सुनार, खाती का लड़का खाती और किसान का लड़का किसान होता है। प्रायः यह स्थिति बनती है कि पिता का व्यवसाय पुत्र संभाल लेता है। इसके पीछे एक वैयक्तिक विशिष्टता काम करती है। यह समूचे समाज में, समुदाय में नहीं मिलती।

प्रश्न है मूल स्रोत का

ये दस प्रकार की संज्ञाएं व्यवहार और आचरणों को प्रभावित करती हैं। इन्हें आचरणों का स्रोत कहा जा सकता है।

प्रश्न होता है—क्या ये मूल स्रोत हैं? प्रश्न और आगे बढ़ गया। उत्तर होगा—ये स्रोत हैं किंतु मूल स्रोत नहीं हैं। गंगा बह रही है। प्रवाह को रोक कर बांध बना दिया गया। बांध के फाटक खोल दिए गए। वहां से पानी का प्रवाह आगे चलता है। वह बांध इस प्रवाह का स्रोत बन जाता है किंतु वह मूल स्रोत नहीं है। मूल स्रोत को खोजने के लिए गंगोत्री तक पहुंचना होगा।

ये दस वृत्तियां बीच के बने हुए बांध हैं। इनके फाटक खुले हैं। इनमें से छनकर निकलने वाली चेतना आगे प्रवाहित होती है और हमारे आचरणों को प्रभावित करती है, किंतु ये मूल स्रोत नहीं हैं। मूल स्रोत की खोज में बहुत आगे जाने की जरूरत है। आज के शरीरशास्त्रियों ने बहुत सूक्ष्म खोजें की हैं। पहले पांच मूल तत्त्व या पांच भौतिक तत्त्व ही मूल कारण माने जाते थे। आज के वैज्ञानिक वैसा नहीं मानते। आज इतने सूक्ष्म तत्त्व खोज लिए गए हैं कि ये पांच तत्त्व—पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और आकाश तो उनके ही संरक्षक बन जाते हैं। ये मूल कारण नहीं हैं। मूल कारण कुछ और हैं।

वर्तमान विज्ञान का मत

आज का विज्ञान कहता है कि आचरण और व्यवहार के पीछे रसायन काम करता है। एक आदमी आक्रमण करता है। रसायन उसका मूल कारण है। एक घटना घटती है और

आदमी चिंता में निमग्न हो जाता है। घटना के साथ चिंता का कोई साक्षात् संबंध नहीं है। चिंता का सीधा संबंध है रसायन के साथ। एक रसायन पैदा होता है और आदमी चिंता में डूब जाता है। एक रसायन पैदा होता है और आदमी डर से कांपने लग जाता है। प्रत्येक आचरण और व्यवहार का अपना रसायन होता है, केमिकल होता है। वह आदमी को उस प्रकार के आचरण और व्यवहार के लिए प्रेरित करता है। तरंगशास्त्रीय संदर्भ में जब इस विषय पर सोचता हूं तो लगता है कि संभवतः वैज्ञानिकों ने अभी पूरे रसायनों की खोज नहीं की है, नहीं कर पाए हैं। किंतु कर्मशास्त्रीय खोजों के अनुसार हमारे शरीर में उतने रसायनों के प्रकार हैं, जितने कर्म के प्रकार हैं। प्रत्येक घटना रसायन के साथ जुड़ी हुई है और प्रत्येक रसायन कर्म के साथ जुड़ा हुआ है। एक शृंखला है—कर्म, भाव और रसायन। 'कर्मतो जायते भावः, भावात् कर्मापि सर्वदा'—कर्म से भाव पैदा होते हैं और भाव से कर्म पैदा होते हैं। कर्म का अर्थ यहां कार्य या क्रिया नहीं है। यह पौद्गलिक अनुबंध है, जो क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में हमारे साथ जुड़ता है। क्रिया का प्रतिबिंबन या अंकन होता है और वह हमारे मस्तिष्क से जुड़ता है। यह स्थूल मस्तिष्क का अंकन बहुत स्थूल होता है किंतु सूक्ष्म चेतना के साथ अनुबंधित हो जाता है।

शक्ति परिवर्तन का सिद्धांत

कर्मवाद के अनेक नियम हैं, अनेक रहस्य हैं। हम इन रहस्यों और नियमों को पूरा नहीं जानते, इसीलिए अनेक भ्रांतियां उत्पन्न होती हैं। कर्मवाद का नियम है—शक्ति का अल्पीकरण और शक्ति का संवर्धन। कर्म की जो फलादान की शक्ति है, उसको कम भी किया जा सकता है और बढ़ाया भी जा सकता है। फलादान की काल-अवधि को बढ़ाया भी जा सकता है और कम भी किया जा सकता है। यह है शक्ति-परिवर्तन का सिद्धांत।

जाति परिवर्तन का सिद्धांत

कर्मवाद का एक नियम है—जाति परिवर्तन। कर्म की जाति को बदला जा सकता है। बंध काल में कर्म के एक प्रकार के परमाणु बंधते हैं। पश्चात् उन परमाणुओं की जाति को बदला जा सकता है। यह आज का नस्ल-परिवर्तन का सिद्धांत है। उसी का एक उदाहरण दिया गया है। उसकी चतुर्भंगी इस प्रकार बनती है—

1. पुण्य और उसका फल पुण्य। 2. पाप और उसका फल पाप। 3. पुण्य और उसका फल पाप। 4. पाप और उसका फल पुण्य।

प्रथम दो विकल्प निर्विवाद हैं। पुण्य का फल पुण्य और पाप का फल पाप—इनमें कोई विवाद नहीं है। किंतु शेष दो विकल्प जटिल हैं। है पुण्य और फल होगा पाप। है पाप और फल होगा पुण्य। प्रश्न होता है कि यह संभव कैसे हो सकता है? इसका समाधान है कि जाति-परिवर्तन के द्वारा ऐसा हो सकता है। यह बहुत बड़ा रहस्य है कर्मवाद का। इसके आधार पर अनेक बातें बदल जाती हैं, बहुत बड़ा परिवर्तन होता है। पुण्य का बंध हुआ। इस बंध में सारा कर्म-परमाणु-संग्रह पुण्य से जुड़ा हुआ है। किंतु बाद में ऐसा कोई पुरुषार्थ हुआ कि उस संग्रह का जात्यंतर हो गया। जो परमाणु पुण्य के थे, वे पाप के परमाणु बन गए। जो सुख देने वाले परमाणु थे, वे दुख देने वाले परमाणु बन गए।

इसी प्रकार पाप का बंध हुआ। इस बंध में कर्म का सारा परमाणु-संग्रह पाप से जुड़ा हुआ है, किंतु बाद में ऐसा पुरुषार्थ हुआ, इतनी घोर तपस्या की गई, साधना की गई कि उस संग्रह का जात्यंतर हो गया। जो पाप के परमाणु थे, वे पुण्य के परमाणु बन गए। जो दुख देने वाले परमाणु थे, वे सुख देने वाले परमाणु बन गए।

ये दो विकल्प बन गए। परमाणुओं का संग्रह हुआ पुण्य रूप में और उसका परिणाम घटित हुआ पाप के रूप में। यह जात्यंतर का उत्कृष्ट उदाहरण है।

परिवर्तन की प्रक्रिया

कर्मवाद का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है—जाति-परिवर्तन। इस जाति-परिवर्तन या शक्ति-परिवर्तन की प्रक्रिया को जानना आवश्यक है। कोई भी आदमी पाप का फल पाना नहीं चाहता। सभी पुण्य का फल पाना चाहते हैं, इसलिए उस प्रक्रिया की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है।

उसकी प्रक्रिया के तीन घटक हैं—मन, मस्तिष्क और चित्त। इन तीनों को प्रशिक्षित करना होता है। मन और मस्तिष्क दो हैं, यह आज की वैज्ञानिक धारणा से बहुत स्पष्ट हो गया। विज्ञान की भाषा में 'ब्रेन' अलग है और 'माइंड' अलग है। दोनों स्वतंत्र हैं, किंतु दर्शन की भाषा में चित्त तत्त्व को भी जोड़ना होगा। मन, मस्तिष्क और चित्त, ये तीनों स्वतंत्र हैं। जिस व्यक्ति ने चित्त को अनुशासित कर डाला, उसका मस्तिष्क अनुशासित होगा, मन अनुशासित होगा, वह व्यक्ति स्थितप्रज्ञ या समाधिस्थ कहलाएगा। यदि मस्तिष्क मन और चित्त पर हावी हो जाता है तो व्यक्ति शैतान बन जाता है। देव और दानव में इतना ही अंतर है। प्रत्येक व्यक्ति देव बन सकता है। प्रत्येक व्यक्ति दानव बन सकता है। जिस व्यक्ति ने मस्तिष्क, मन और चित्त पर अनुशासन स्थापित

कर डाला, वह देव बन जाता है और जिस व्यक्ति के मस्तिष्क का मन और चित्त पर अनुशासन स्थापित हो जाता है, वह दानव बन जाता है। ध्यान के द्वारा मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने का प्रयास किया जाता है। मस्तिष्क, मन और चित्त पर स्वामित्व स्थापित किया जाता है।

जब मस्तिष्क स्वामी बनता है, तब व्यक्ति को अनेक कठिनाइयों का बोझ ढोना पड़ता है। जब चित्त मस्तिष्क और मन पर अपना अधिकार जमाता है तब स्थिति बदल जाती है। व्यक्ति-व्यक्ति में रूप, रंग, आकार-प्रकार का अंतर इतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता। व्यक्ति की वैयक्तिक विशेषता इस बात पर निर्भर करती है कि कौन व्यक्ति मन के सहारे चलता है, मन का अनुशासन मानता है, मस्तिष्क के अधीन रहता है और कौन व्यक्ति मन और मस्तिष्क को अपने अधीन रखकर चलता है, उन पर अनुशासन करता है।

मनुष्यों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक श्रेणी उन मनुष्यों की है जो मन के अनुशासन में चलते हैं। दूसरी श्रेणी उन मनुष्यों की है जो मन और मस्तिष्क को अपने अनुशासन में चलाते हैं।

रेटीकुलर फॉरमेशन

मस्तिष्क-विज्ञान की खोजों से कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त हुई हैं। उनके अनुसार मस्तिष्क का जो रेटीकुलर फॉरमेशन-तांत्रिक जाल है, वह उन न्यूरोंस से बना है, जहां भय, क्रोध, लालसा आदि भाव जन्म लेते हैं और वह रेटीकुलर फॉरमेशन उन भावों का नियंत्रण भी करता है। वे पैदा भी होते हैं और नियंत्रित भी होते हैं। दोनों कार्य साथ-साथ चलते हैं। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। यदि भाव उत्पन्न हों और साथ में नियंत्रण की क्षमता न हो तो मनुष्य इतने आवेग में आ जाए कि शरीर की व्यवस्था ही लड़खड़ा जाए।

इस रेटीकुलर फॉरमेशन की क्रिया को कर्मवाद की भाषा में औदयिक व्यक्तित्व और क्षायोपशमिक व्यक्तित्व कहा जाता है। ये दोनों व्यक्तित्व साथ-साथ चलते हैं। औदयिक व्यक्तित्व है इसलिए क्रोध, भय आदि भाव उत्पन्न होते हैं और क्षायोपशमिक व्यक्तित्व (चेतना की निर्मलता) है इसलिए उन पर नियंत्रण होता है। उत्पन्न होना और नियंत्रित होना—दोनों अवस्थाएं साथ में चलती हैं।

कर्म : वर्तुल

मैं मानता हूं कि कर्मवाद की जो आंतरिक धाराएं हैं, उनके अनुसार ही स्थूल शरीर के सभी अवयवों का निर्माण होता है। यह स्थूल शरीर कर्म शरीर (सूक्ष्मतम शरीर) का संवादी शरीर है। जितनी प्रवृत्तियां, जितने प्रकंपन सूक्ष्म शरीर में होते हैं, उतने ही अंग, प्रत्यंग, अवयव इस स्थूल शरीर में बन जाते हैं। यह बिलकुल संवादी है। जो भाव जन्म लेते हैं, वे सारे कर्म के द्वारा संचालित हैं और वे नए कर्म का पुनः निर्माण करते हैं। यह एक वर्तुल है। कर्म के द्वारा निषेधक भावों का उत्पन्न होना और इन निषेधक भावों के द्वारा फिर कर्म का आगमन होना—यह चक्र निरंतर चलता रहता है। जब तक यह चक्र नहीं तोड़ा जाता, इस चक्रव्यूह को नहीं भेदा जाता, तब तक समस्या का समाधान नहीं हो सकता। समस्या को समाहित करने के लिए इस चक्र का भेदन अत्यावश्यक है और इस भेदन में ध्यान का बहुत महत्त्व है। यह एक उपाय है, जिसके द्वारा परिवर्तन घटित हो सकता है। ध्यान का अर्थ ही है—भावों का परिवर्तन। भावों का परिवर्तन होता है तो चक्रव्यूह अपने आप टूट जाता है।

भाव से ही भाव-परिवर्तन

प्रेक्षाध्यान का मुख्य उद्देश्य है—भावात्मक परिवर्तन। भाव का संबंध कर्मों के साथ है। हमारी आंतरिक चेतना के साथ वे सब जुड़े हुए हैं। वे भाव विकृतियां और बीमारियां पैदा करते हैं। भावों में परिवर्तन आने पर विकृतियां और बीमारियां मिट जाती हैं। भाव को भाव के द्वारा ही बदला जा सकता है। हीरे को हीरा ही काट सकता है। इसी प्रकार भाव के द्वारा ही भावात्मक परिवर्तन घटित हो सकता है। प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा, ये दोनों भाव हैं। हम इनके प्रयोग से विधायक भावों का प्रयोग कर निषेधात्मक भावों को समाप्त कर सकते हैं। इससे कर्म का वलय टूटता है, छिन्न-भिन्न होता है।

शरीर के साथ काम करने वाली चेतना स्थूल होती है। इस चेतना को पार कर जब हम भीतर जाते हैं तब विद्युत शरीर के साथ संपर्क होता है। यह सूक्ष्म शरीर है। इसके द्वारा हमारा स्थूल शरीर संचालित होता है। उसको पार कर जब हम और गहरे में जाते हैं, तब हमारा संपर्क होता है सूक्ष्मतर शरीर से। वह है कर्म शरीर। यह चेतना हमारे आचार, व्यवहार और विचार का संचालन करती है। ध्यान का प्रयोजन है कर्मशरीर के साथ काम करने वाली चेतना तक पहुंच जाना और उन कर्म परमाणुओं को समझ लेना, जो सारी घटनाओं के लिए जिम्मेदार हैं। उनको समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है, उनका क्षय करना भी जरूरी है। इस बिंदु तक पहुंचकर ही हम कर्मवाद को समझ सकते हैं, मनोविज्ञान को समझ सकते हैं। ❖

अनुसंधानों ने यह तो प्रतिपादित कर ही दिया है कि चाहे कीटनाश से व्यक्ति का भावी जीवन बिगड़े या न बिगड़े, किंतु उसका वर्तमान जीवन तो बिगड़ ही जाएगा, बल्कि बिगड़ भी रहा है। कीटनाश से जैविक-चक्र में जो व्यतिक्रम आया है, वह चौंकाने के साथ-साथ हमें चेताने वाला भी है। यदि यही गति रही तो कीटनाश हमारे ही स्वनाश के रूप में परिलक्षित होगा। कीट, जिसे मनुष्य भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं, इन्हीं कीटों के विनाश के कारण यह भोजन जहरीला प्रदूषण उत्पन्न करेगा। इससे अन्य जीव-जंतु प्रभावित होंगे, क्योंकि जो कीट जिनके भोज्य थे वे अपने भोजन के बिना स्वयं नष्ट होंगे अथवा असंतुलित व्यवहारी होकर जैसा-तैसा खाएंगे.। इससे विकृतियां बढ़ेंगी और अंततः वे मनुष्य में बीमारी और असामान्यता के रूप में प्रकट होंगी। अतः कीटनाश व्यक्ति के स्वयं के नाश का आमंत्रण है।

सहभागितापूर्ण अस्तित्व

• डॉ. एस. आर. व्यास •

विश्व की सर्वोत्तम निधि 'जीवन' है जो विविध रूपों में चारों ओर अभिव्यक्त है। इस अभिव्यक्ति से विश्व में रस, ऊर्जा एवं आनंद की बहुरंगी छटा अनुभूत होती है। जीवन को अभिव्यक्त करने वाला एक रूप हमें मनुष्य में भी मिलता है, जो बुद्धि एवं क्षमता में अन्य अभिव्यक्त जीवन-रूपों से विशिष्ट है। विशिष्ट होने के दंभ ने मनुष्य को शासक, आक्रांता और अधिकार शोषक बना दिया है, जिसका परिणाम प्रकृति में इतनी दूर तक फैल गया है कि स्वयं उसकी अपनी स्थिति विनाश के कगार पर आ पहुंची है।

जैन दर्शन विनाश के कगार पर खड़े इस मनुष्य को बचाने एवं उसे उसके वास्तविक गंतव्य की ओर प्रेरित करने का वह आह्वान है जो सदियों पूर्व किया गया था, किंतु जिसे मनुष्य ने अपनी स्वार्थ-दौड़ और विज्ञान की उपलब्धियों की विजय-दुंदुभियों के बीच अनसुना कर दिया था। दौड़ जारी रखते हुए और उपलब्धियों को बटोरते हुए जब वह विनाश के कगार के समीप आ गया, तब उसे लगा कि यह सब कैसे हो गया? अणु बम और नाभिकीय शस्त्रों को हाथ में लेकर प्रकृति को ललकारने वाला मनुष्य आज पानी, छाया और हवा के लिए तरस रहा है। हजारों सांसों को खत्म करके, हजारों जीवनों को मौत में बदलने के बाद भी वह खुद घुट-घुटकर सांसें ले रहा है, तो फिर उस सबका क्या मतलब है जिसे बनाने-संवारने में उसने शताब्दियां लगा दीं? करोड़ों रुपये खर्च करके बनाए गए सीमेंट-कंक्रीट के जंगलों के बीच यदि उसके कान पक्षियों की चहचहाहट के लिए, आंखें हरियाली के लिए और नाक ताजी बयार को हृदय में भर लेने के लिए तरस जाए तो क्या वे करोड़ों रुपये कौड़ियों के बराबर नहीं हो गए हैं? ऐसा क्यों हो रहा है? चंद्रमा और मंगल ग्रह की दूरियां नापने वाला मनुष्य अपने ही कदमों की गति नापना, दिशा निर्धारित करना क्यों भूल गया?

जैन दर्शन तारों, नक्षत्रों और ग्रहों पर उड़ने वाले मनुष्य के कदमों को सही पगडंडी पर चलने का संकेत देता ऐसा मार्गपट्ट है, जो पथिक को यह विश्वास दिलाता है कि यदि वह उसके अनुसार चलता रहा तो अवश्य ही उसे मंजिल मिल जाएगी। ये मार्गपट्ट उन तीर्थंकरों द्वारा स्थापित हैं जो सारे झंझावातों को सहकर मंजिल पा चुके हैं और प्रत्येक मनुष्य को भटकाव से बचाने के लिए मार्गपट्ट के रूप में लिखित निर्देश विद्यमान हैं। प्रश्न यह है कि मार्गपट्ट या सिद्धांत क्या प्रतिपादित करते हैं?

डॉ. एस. आर. व्यास एम. एल. सुखाड़िया विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के विभागाध्यक्ष हैं।

यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि जीवन विविधरूपी प्रवाह है जो प्रकृति में व्याप्त है। जीवन अर्थात् चेतना अर्थात् प्राण और जो इस प्राण को निहित रखता हो वह प्राणी है। प्राणी अपने अस्तित्व के लिए अन्य प्राणी पर आश्रित है, यह बात जैन दर्शन शताब्दियों पूर्व स्थापित कर चुका है। यहां आवश्यकता के लिए आश्रित होना और अस्तित्व के लिए आश्रित होने में भेद है। आधुनिक व्यवसायपरक दृष्टि पारस्परिक आश्रितता को तो स्वीकार करती है किंतु केवल आवश्यकता के आधार पर। जैन दृष्टि की पारस्परिक आश्रितता का आधार अस्तित्वगत है। जब आवश्यकता के आधार पर निर्भरता को स्वीकार किया जाता है तो उसमें मूल्य केंद्रीय नहीं होता, जबकि अस्तित्वगत निर्भरता में मूल्य केंद्रीय है। यही कारण है कि जैन दर्शन, 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' की मान्यता प्रस्तुत करता है। अस्तित्वगत आश्रितता प्राणियों में समता को स्वीकार करती है। जिसका अर्थ यह है कि गुण, क्षमता, शक्ति और आकार में भिन्न होने पर भी विभिन्न प्राणियों में सारभूत समता है और इस बहुरूपी विभिन्नता के बाद भी अस्तित्वगत आश्रितता की दृष्टि से मधुमक्खी जैसे लघुआकारी, कम शक्ति-सामर्थ्य वाले प्राणी का सिंह जैसे बृहद् आकारी एवं शक्तिमान प्राणी के अस्तित्व के लिए समान महत्त्व है। ठीक यही बात मनुष्य के अस्तित्व पर भी लागू होती है।

सबसे बुद्धिमान, विजयी, विवेकी और शक्तिशाली होने पर भी मनुष्य अपने अस्तित्व के लिए अपने से बहुत ही निम्न, निरीह एवं निकृष्ट प्रतीत होने वाले प्राणियों पर निर्भर है। हम कीट-पतंगों को इन्हीं में सम्मिलित कर सकते हैं। पृथ्वी पर उड़ने वाले अथवा पृथ्वी में पैदा होने वाले विभिन्न जाति-प्रजातियों के कीट-पतंगों से परिचित हम उन्हें व्यर्थ की उत्पत्ति मानते हैं। मच्छर, भौंरे, केंचुए, केटरपीलर, टिड्डी, रेशम के कीड़े, चींटियां-मकोड़े, छिपकली, अमीबा और ऐसे कितने ही प्रकार के कीटों के नाम लिए जा सकते हैं जो विभिन्न प्रजातियों में पाए जाते हैं।

मनुष्य ने इन कीट-पतंगों को व्यर्थ की उत्पत्ति मानकर इन्हें स्वयं के जीवन में बाधक माना और इन्हें खत्म करने के लिए अनेक प्रयोग-अनुसंधान कर डाले। कई रसायनों, मिश्रणों के आधार पर औषधियों का निर्माण किया गया और कीट-पतंगों से पृथ्वी को मुक्त करने का अभियान चलाया गया। माना गया कि मनुष्य का घर या उसका शहर केवल उसके लिए ही होना चाहिए, किसी अन्य प्राणी के लिए किसी भी हालत में वह 'घर' नहीं बन जाए, इसलिए ज्ञान-विज्ञान की सारी कुशलता इसी में खर्च कर दी गई। कीट-मुक्त आवास आधुनिक जीवन शैली का पर्याय बन गया। दूसरी ओर इन्हीं प्राणियों को खाद्य-सामग्री के रूप में मनुष्य की स्वाद-लिप्सा का भी शिकार होना पड़ा। मेंढ़क और केंचुए का अचार, सांप-केंकड़े के कटलेट्स तो विदेशी व्यंजनों में शीर्ष स्थान पर हैं, जिनका सबसे बड़ा निर्यातक भारत है। किंतु कीटों के इस संहार ने जिस खतरे को उत्पन्न किया है, वह इतना भयावह है कि स्वयं मनुष्य को ही लीलने के लिए तैयार है।

यह सोचा गया कि कीटों के विनाश से जैविक-चक्र में जो व्यवधान आता है, वह अन्य प्राणियों में विकृतियां उत्पन्न करता है और ये विकृतियां अन्य प्राणियों में जैविक-असंतुलन उत्पन्न कर देती हैं। इस असंतुलन का सीधा प्रभाव स्वयं मनुष्य पर विपरीत रूप में पड़ता है। इस तरह मनुष्य एक स्वविनाशी प्राणी बन जाता है जिसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी है। जैन दर्शन व्यक्ति के इस स्व-विनाश से सुरक्षित होने का आश्रय स्थल है।

प्राणियों में सारभूत समता स्वीकारते हुए जैन दर्शन का मानना है कि प्राणी कैसा भी हो—विषैला, हिंसक अथवा भयावह, वह मनुष्य के द्वारा अहिंस्य है। अहिंस्य इसलिए क्योंकि उसके प्रति हिंसा किए जाने पर वह वेदना पाएगा जो कर्ता में कर्मबंध उत्पन्न करेगी। अतः प्राणियों की हिंसा से व्यक्ति को विरत रहना चाहिए। यहां यह जिज्ञासा की जा सकती है कि वेदना के कारण हिंसा नहीं की जानी चाहिए, किंतु कुछ कीट ऐसे होते हैं जो एकेंद्रिय होते हैं, तो उन्हें वह संवेदना या कष्ट अनुभूत नहीं हो सकता है जो कि एक से अधिक इंद्रिय रखने वाले प्राणी को हो सकता है। अतः एकेंद्रिय प्राणी को अहिंस्य क्यों माना जाए?

इस जिज्ञासा के समाधान स्वरूप जैन दर्शन यह मत प्रस्तुत करता है कि एकेंद्रिय प्राणियों में वेदनानुभूति की क्षमता चाहे कम होती हो, फिर भी वे अवध्य हैं, क्योंकि प्राणी होने के कारण उनमें वेदना तो होती ही है, चाहे ज्ञात रूप में या प्रत्यक्ष न होती हो। जैसे अंधे, बधिर, मूक और पंगु मनुष्य को दुख देने पर उसे कष्ट अनुभव होता है, वैसे ही अन्य इंद्रियों के न होने पर भी एकेंद्रिय जीव को कष्ट होता है। पृथ्वी के कीटादि को कष्ट देने पर उन्हें होने वाली वेदना को यद्यपि देखा नहीं जाता, किंतु उन्हें वह वैसे ही अनुभूत होती है जैसे कि एक जर्जरित पुरुष के सिर पर किसी बलिष्ठ व्यक्ति के प्रहार करने पर उस पुरुष को वेदना अनुभूत होती है।

मनुष्य के बहुमुखी भौतिक विकास से जहां सकारात्मक उपलब्धियां सामने आई हैं, वहीं कुछ नकारात्मक स्थितियां भी पैदा हुई हैं। इनमें से प्रमुख है—

मनुष्य का स्वयं को 'विशेष' प्राणी मानने का भाव, जिसके कारण उसने अपने जीवन, इच्छा एवं प्रयोजनों को अतिरिक्त महत्त्व दिया। पूरी पृथ्वी और अब तकनीकी विकास के बाद तो अन्य ग्रह भी जैसे उसी की इच्छाओं की पूर्ति के लिए हैं। वह जहां उचित समझे वहां बांध बनाए, कारखाने लगाए, नदियों को मोड़ दे, बस्ती बसाए और चाहे जैसे प्रयोग–अनुसंधान करे। प्रकृति की संपदा का जैसे उसने एकाधिकार पा लिया हो। क्या पृथ्वी का मात्र मनुष्य ही अधिकारी है? वे सब अन्य प्राणी, जो मूक, निरीह, दुर्बल और अबोध हैं, क्या पृथ्वी पर उनका कोई अधिकार नहीं है? अपने दिशाहीन किंतु गर्वीले प्रयोजनों की पूर्ति हेतु मनुष्य का हवा, पानी, जंगल, नदी, पहाड़ आदि से मनचाहा खिलवाड़ करना क्या नैतिक माना जा सकता है? किंतु मनुष्य ने किसी की प्रतीक्षा कहां की? उसने वह सब कुछ किया, जो उसे नहीं करना चाहिए था। प्रकृति से इस तरह खिलवाड़ कर सकने के पीछे मनुष्य की यह धारणा आधार रही है कि प्रकृति निर्जीव, मूक और पदार्थ है—एक वस्तु की तरह है। इसलिए उसके साथ कैसा भी व्यवहार क्यों न किया जाए, सब सही है।

जैन दर्शन मनुष्य द्वारा प्रकृति को निर्जीव एवं मूक मानने के विरुद्ध है। उसकी स्पष्ट घोषणा है कि अनेक सूक्ष्म, अगोचर एवं लघु जीवों की चेतना से यह प्रकृति स्पंदित है। इसमें चारों ओर जीवन, प्राण छलछला रहा है। वहां भी, जहां तक दिखाई देता है और वहां भी, जहां तक दिखाई नहीं देता। इसलिए जैन दर्शन ने चलने-फिरने से लेकर बड़े से बड़े काम करने में प्रकृति की सजीवता के संदर्भ में ही अपने रहने-सोने-खाने-पीने और बोलने-बतियाने के तौर-तरीके अपनाए। जैन दर्शन के लिए इस 'सजीवता की शैली' को अपनाना मात्र आदर्श नहीं, अपितु व्यवहार की अनुभूति है। एक सुदीर्घ परंपरा, कई शताब्दियों को लांघकर हमारे आणविकी युग में भी प्रवाहमान है जो यह सिद्ध करती है कि प्रमाद के कारण किसी बात को न अपना पाना उस बात की निरर्थकता प्रतिपादित नहीं करता है, अपितु उसकी अक्षमता दर्शाता है जो उसे अपना न सका। जैन श्रमण परंपरा जीवन को सधे धरातल पर, स्पंदित प्रकृति में जागृत होकर जीने की परंपरा है। विश्व के किसी धर्मदर्शन ने प्राणियों को ऐसा शाश्वत अधिकार-पत्र नहीं दिया है जैसा जैन दर्शन ने दिया है।

जब संपूर्ण प्रकृति एवं प्राणियों के प्रति जैन दर्शन का इतना अपनत्वपूर्ण दृष्टिकोण है तो कीटादि के प्रति भी वैसा ही अपनत्वपूर्ण होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। इस अपनत्वपूर्ण दृष्टिकोण का आधार मात्र भावनात्मक नहीं है, अपितु इसमें नैतिक उत्तरदायित्व निहित है।

जैन दर्शन की मान्यता है कि अस्तित्व सहभागितापूर्ण होता है। अस्तित्व की एकलता बहुतत्त्ववादी जैन दर्शन में अप्राप्य है। जब अस्तित्व अनेकात्मक है तो यह सिद्ध है कि जीवन भी विविधरूपी है। चेतना के आधार पर किसी एकरूपीय जीवन को किसी अन्यरूपीय जीवन से श्रेष्ठ या निम्न नहीं ठहराया जा सकता है। केवल इतना कहा जा सकता है कि जीवन-जीवन समान है, ठीक वैसे ही जैसे दूसरी कक्षा पास करने वाले विद्यार्थी की खुशी और आठवीं कक्षा पास करने वाले विद्यार्थी की खुशी में मात्रा भेद नहीं किया जा सकता है, यद्यपि उनमें कक्षाभेद है। 'पास होने की खुशी' दोनों में समान है। इसी तरह दो प्रकार के पृथक् जीवनों का जीवनगत मूल्य समान है और इस समानता के आधार से एक की अपेक्षा दूसरे को श्रेष्ठ मान लेना नैतिक दृष्टि से अवांछित है—चाहे वह कीट का जीवन ही क्यों न हो।

दूसरी बात यह है कि 'व्यर्थ की उत्पत्ति' के रूप में देखे जाने वाले कीटों को जब इसी आधार पर स्वयं की इच्छापूर्ति के लिए समाप्त कर दिया जाता है तो ऐसा करना व्यक्ति की चेतना के प्रकाश पर परावर्तन के नियम की तरह, उसे भी आच्छादित कर देता है। किसी प्राणी की हत्या के कारण पड़ने वाले रक्त के छींटे चाहे जमीन पर ही गिरे दीखते हों—बंधन के कर्म-परमाणुरूपी छींटे तो हिंसा करने वाले व्यक्ति की चेतना पर भी गिरते हैं और उसकी चेतना को कैदी बना लेते हैं। यह चेतना का बंधन, जंजीरों और सलाखों के बंधन से अधिक मजबूत होता है। यह अदृश्य और समयावधिगत होता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि भौतिक ज्ञान की चकाचौंध में व्यक्ति उन जंजीरों को देख नहीं पाता है जो अदृश्य रूप से उसकी चेतना को बंधक बनाने के लिए तैयार हैं। अतः इन अदृश्य जंजीरों से बचने के लिए व्यक्ति को प्राणी-हिंसा, जिसमें कीटनाश भी सम्मिलित है, न करने की सलाह से जैन साहित्य भरा हुआ है।

यह स्थापित तथ्य है कि व्यक्ति सभी प्रकार के कार्य स्वयं के लिए या जिन्हें वह स्वयं जैसा प्रिय मानता है, उनके लिए करता है। किंतु उसमें यह विवेक नहीं होता कि वह खुद के रूप में जिसे मान रहा है—वह उसका शरीर, मन आदि नहीं है, अपितु उसकी अविनाशी चेतना है। इस चेतना को स्वयं का न मानकर वह शरीरादि को ही स्वयं का मानता है और उसी के लिए, उसी के सुख-चैन के लिए जीवनभर चाहे-अनचाहे कामों को करता रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि जो उसकी अपनी वस्तु है, उसकी दुर्दशा होती रहती है। जैन दर्शन व्यक्ति को उसका वास्तविक 'स्वामी' बनाना चाहता है, उसके स्वामित्व को लौटाना चाहता है।

यदि व्यक्ति को यह पता चले कि वह कीटादि की हिंसा करके ऐसा दिखावटी स्वामी ही बन पाएगा जो यहां कुछ सालों के लिए ही है, बदले में उसे स्वयं गुलाम बनना है तो शायद वह स्वयं के लिए, या जिसे वह स्वयं जैसा प्रिय मानता है उनके लिए हिंसक कार्यों को करना बंद कर दे। किंतु मनुष्य में यह विवेक कब आएगा, यह कहना संभव नहीं है।

अनुसंधानों ने यह तो प्रतिपादित कर ही दिया है कि चाहे कीटनाश से व्यक्ति का भावी जीवन बिगड़े या न बिगड़े, किंतु उसका वर्तमान जीवन तो बिगड़ ही जाएगा, बल्कि बिगड़ भी रहा है। कीटनाश से जैविक-चक्र में जो व्यतिक्रम आया है, वह चौंकाने के साथ-साथ हमें चेताने वाला भी है। यदि यही गति रही तो कीटनाश हमारे ही स्वनाश के रूप में परिलक्षित होगा। कीट, जिसे मनुष्य भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं, इन्हीं कीटों के विनाश के कारण यह भोजन जहरीला प्रदूषण उत्पन्न करेगा। इससे अन्य जीव-जंतु प्रभावित होंगे, क्योंकि जो कीट जिनके भोज्य थे वे अपने भोजन के बिना स्वयं नष्ट होंगे अथवा असंतुलित व्यवहारी होकर जैसा-तैसा खाएंगे। इससे विकृतियां बढ़ेंगी और अंततः वे मनुष्य में बीमारी और असामान्यता के रूप में प्रकट होंगी। अतः कीटनाश व्यक्ति के स्वयं के नाश का आमंत्रण है।

अतः यदि कीटरक्षक सिद्धांत के नैतिक पक्ष के आधारों को एक क्षण के लिए कमजोर मान भी लिया जाए तो भी यह कहना गलत नहीं होगा कि कीटरक्षा चाहे कीटरक्षा के लिए न की जाए, किंतु कीटरक्षा से यदि स्व-रक्षा होती है तब कीटरक्षा को स्वीकार करने में कोई कोताही नहीं होनी चाहिए। स्वयं की रक्षा से अन्य की भी रक्षा हो जाती हो तो ऐसी स्थिति में 'स्वार्थ' भी वरेण्य है, अनुपालनीय है। यह सबसे बड़ी नैतिकता होगी, फिर अन्य आधारों की आवश्यकता ही कहां है।

जैन दर्शन इस 'स्व' में समस्त 'पर' को देखने की चेष्टा है। 'एक को जानना सबको जानना है।' जैन दर्शन जीवन को संग्राम नहीं मानता, क्योंकि संग्राम मार-काट, हार-जीत, छल-कपट और गर्व-हताशा को चित्रित करता है। वह तो जीवन को ऐसा ग्राम मानता है जहां सभी बिरादरियों में मैत्री, करुणा, सौहार्द्र के साथ शांति हो, जहां समता की चौपाल हो। आने वाले मनुष्य को संग्राम की नहीं, ऐसे ही ग्राम की आवश्यकता होगी, जिसका अभी तक चाहे निर्माण न हुआ हो, किंतु जिसके निर्माण के लिए एक नक्शा जैन दर्शन के पास सुरक्षित है। सभी इस नक्शे के अनुसार जीवन को संग्राम बनाने के बजाय ग्राम बनाने का सच्चा संकल्प लें— यही आज की जरूरत है। ❖

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।

●

जब आत्मा यह समझ लेती है कि सत्त्व, रज और तम, प्रकृति के ये तीनों गुण कर्मों के कर्ता हैं, मैं उन कर्मों का मात्र दर्शक हूं, तो आत्मा मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाती है।

●●

अच्छी संगत और अध्ययन, मनन से जब व्यक्ति यह अनुभव कर लेता है कि आत्मा केवल चेतन तत्त्व है। इस चेतन तत्त्व की देह में उपस्थिति से प्रकृति के तीनों गुणों में परिवर्तन होता है। जैसे सूर्य की उपस्थिति मात्र से फसलें पकती हैं, बादल बनते हैं, वर्षा होती है। सृष्टि के इन परिवर्तनों के लिए सूर्य कोई सम्मान-पत्र नहीं चाहता। सूर्य जैसा अकर्तापन जब आत्मा अनुभव करती है तो व्यक्ति अपने शरीर में होने वाली क्रियाओं का दर्शक बन जाता है। ऐसा समझता है कि शुभ कर्म हुआ है तो सतोगुण की प्रबलता के कारण हुआ होगा। कर्मठता बढ़ी है तो रजोगुण उत्कर्ष में होगा। आलस्य ने घेर लिया है तो तमोगुण में वृद्धि हुई होगी। शरीर की हर क्रिया को अपना कर्म मानने की बजाय प्रकृति का कर्म मानने से व्यक्ति ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है।

'श्रीमद्भगवद्गीता' पर
—**दयानंद वर्मा** की व्याख्या से

'न्याय की स्थिरता' एकांतिक दृष्टि का परिणाम है और 'न्याय की गत्यात्मकता' अनेकांतवादी दृष्टि का परिणाम है। विचार किया जाए तो न्याय की न्यायपूर्णता उसके गत्यात्मक होने में ही निहित है। उसे गत्यात्मक बनाए रखने में जो चिंतन-आधार अनुकूल और उपयोगी है, वह अनेकांतवादी चिंतन ही है।

अनेकांतवाद और न्याय की अवधारणा

• प्रो. टी. भट्टाचार्य •

सामान्यतया यह माना जाता है कि जीवन में 'व्यवस्था' एवं 'सुचारुता' न्याय के दो प्रमुख उत्तरदायित्व हैं। व्यवस्था के बिना जीवन के वे कार्य, जिन्हें वांछनीय माना गया है, किए नहीं जा सकते हैं और सुचारुता के बिना समाज में संतुलन और विकास नहीं हो सकता है। अतः न्याय को ये दो महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व समाज की संरचना के समय से ही प्राप्त हैं।

न्याय को ये उत्तरदायित्व दिए जाने का मूल कारण परोक्षतः मनुष्य का स्वभाव है। धर्मशास्त्रों में मनुष्य के स्वभाव को चाहे 'दिव्य, उच्च एवं श्रेष्ठ' बताया गया हो, किंतु निम्न, विरोधी एवं ध्वंसात्मक प्रवृत्तियां उसके स्वभाव में प्रथम स्तर पर हैं। लोभ, ईर्ष्या, क्रोध एवं आवेश की प्रवृत्तियों के कारण उसमें आपराधिक विचार उत्पन्न होते हैं और जब ये प्रबल हो जाते हैं तो वह इन्हें येन-केन-प्रकारेण 'कार्य' रूप में परिवर्तित करता है। कई बार इससे समाज में न केवल 'अव्यवस्था' उत्पन्न होती है, अपितु उसकी सुचारुता भी खंडित हो जाती है। प्रश्न उठता है कि इस अव्यवस्था एवं खंडित हुई सुचारुता की पुनर्स्थापना कैसे हो? इसके लिए समाज में न्याय की प्रणाली का विकास हुआ, जिसका प्रमुख कार्य ही व्यवस्था को बनाए रखना माना गया है। व्यवस्था को बनाए रखने के लिए नियम बनाए गए, जिन्हें 'कानून' कहा गया और इन नियमों का उल्लंघन करने पर 'दंड' का प्रावधान किया गया। सभी लोगों से यह अपेक्षा रखना कि वे नियमों को मानेंगे, एक संत या आध्यात्मिक पुरुष की कल्याणकारी भावना या आदर्श तो हो सकते हैं, किंतु वास्तविकता यही है कि यदि कानून में से दंड को हटा दिया जाए तो समाज में अराजकता हो जाएगी। किसी भी युग का समाज हो, कैसे भी लोग हों, नियमों का उल्लंघन प्रत्येक काल में मनुष्यों द्वारा होता रहा है और इसलिए कानून के माध्यम से दंड का प्रचलन भी प्रत्येक युग में रहा है।

प्रो. टी. भट्टाचार्य राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में विधि संकाय के विभागाध्यक्ष एवं अधिष्ठाता हैं।

समानता और निष्पक्षता बनाए रखने के लिए जो कानून बनाए जाते हैं, वे वस्तुतः समाज की परिस्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार बनाए जाते हैं और जब तक उन्हें न बदला जाए, वे प्रचलन में रहते हैं। कानूनों के प्रचलन में रहने के कारण ही समाज को तदनुसार चलना पड़ता है और उल्लंघन करने वाले को दंड भोगना पड़ता है। जीवन परिवर्तनशील है और समय गुजरने के साथ कानून भी अप्रासंगिक हो जाते हैं, किंतु उन्हें बदलने की लंबी प्रक्रिया है और जब तक यह न हो, पुराने कानून ही प्रचलित रहते हैं। इस धीमे परिवर्तन के कारण कई बार कानून पर यह आरोप कि वह हठधर्मी और कठोर है, लगना अस्वाभाविक नहीं है। समाज कानूनरहित स्थिति में नहीं रह सकता है और पुराने की जगह नया लागू करने में विलंब हो सकता है, होता भी है, इसलिए पुराने के प्रचलन के कारण ही उसे हठधर्मी, कठोर और अप्रासंगिक कहा जाता है। किंतु, हमें यह अवश्य मानना होगा कि कानून यदि मौसम की तरह बदलने लगे, तो वह 'कानून' ही नहीं रह जाएगा

और यदि वह बदले ही नहीं, तब भी वह 'कानून' नहीं रह पाएगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि कानून बदलता है तो उसके पीछे चिंतन क्या होता है? साथ ही, उस चिंतन का औचित्य क्या होता है, जिससे कि न्याय का प्रवर्तन बना रहे?

इन प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें दार्शनिक चिंतन अथवा उसके आधारों की आवश्यकता होती है। प्रचलित धाराएं दो प्रकार की हैं, एकांतवादी और अनेकांतवादी। इनमें से अनेकांतवादी चिंतन को जैन दर्शन द्वारा प्रस्तुत किया गया है। अनेकांतवाद का अर्थ है 'भिन्न पक्षों की यथार्थता को या सत्यता को मानना'। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जो कुछ किसी दूसरे पक्ष द्वारा कहा या बताया जा रहा है, उसमें भी सत्य का अंश है अथवा हो सकता है, यह स्वीकार करना अनेकांतवादी दृष्टि है।

इस दृष्टि से यदि न्याय की समस्त स्थितियों का अवलोकन करें तो यह स्पष्ट होता कि न्याय का प्रवर्तन ही अनेकांतवादी दृष्टि से होता है। किसी भी मामले को जब न्यायालय के समक्ष लाया जाता है—चाहे वह चोरी, अपहरण, अतिक्रमण, जालसाजी, हत्या अथवा बलात्कार का हो—तो न्यायालय की यह धारणा रहती है कि जिस पर भी इन आरोपों को लगाया गया है, उस पर ये आरोप ईर्ष्यावश अथवा दुर्भावना के कारण भी लगाए जा सकते हैं, अतः न्यायालय एकांतवादी दृष्टि नहीं अपनाकर अनेकांतवादी दृष्टि से ही मामले को देखता है। इसलिए आरोपी को पूरा अवसर देने का प्रावधान न्याय में है। यदि आरोपी स्वयं अपना पक्ष प्रस्तुत करने में समर्थ न हो तो उसे सरकार की तरफ से वकील दिया जाता है ताकि कथित आरोप का वास्तविक पक्ष स्पष्ट हो सके। यही कारण है कि कई बार आरोप सिद्ध न होने पर 'तथाकथित अपराधी' बरी कर दिए जाते हैं। कारण यह कि न्याय की यह मांग है कि 'चाहे दोषी छूट जाए किंतु किसी निर्दोष को दंड नहीं मिलना चाहिए'। अतः आरोपी को दोषी सिद्ध करने के बीच की प्रक्रिया जब तक पूरी नहीं कर ली जाती, तब तक न्याय किसी व्यक्ति को दंडित नहीं करता। यह अनेकांतवादी दृष्टि का ही परिणाम है।

यहां यह प्रश्न विचारणीय है कि न्याय के अंतर्गत किसी मामले को स्वीकार तो 'अनेकांतवादी' दृष्टि के अनुसार किया जाता है, किंतु उसका निर्णय या फैसला एकांतवादी दृष्टि से ही किया जाता है। दूसरे शब्दों में 'आरोपी' के 'दोषी' होने पर दंड अथवा फैसला तो स्पष्टतः उस इकाई को निमित्त मान कर ही दिया जाता है। तब यहां अनेकांतवादी दृष्टि का क्या हुआ?

यह आपत्ति सही नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि न्यायालय के फैसले में यह भी लिखा जाता है कि किए गए फैसले को यदि दोषी व्यक्ति या पक्ष सही न माने तो किसी भी अन्य सक्षम न्यायालय में वह इसके विरुद्ध अपील दायर कर सकता है। इस तरह कई मामले उच्चतम न्यायालय तक पहुंचते हैं। उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों पर भी 'पुनर्निरीक्षण याचिका' दायर की जा सकती है। अंत में कुछ मामलों में उच्चतम न्यायालय के निर्णय में परिवर्तन का अधिकार 'राष्ट्रपति' को भी दिया गया है। यह सब अनेकांतवादी चिंतन के कारण ही संभव हो पाता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि 'न्याय की स्थिरता' एकांतिक दृष्टि का परिणाम है और 'न्याय की गत्यात्मकता' अनेकांतवादी दृष्टि का परिणाम है। विचार किया जाए तो न्याय की न्यायपूर्णता उसके गत्यात्मक होने में ही निहित है। उसे गत्यात्मक बनाए रखने में जो चिंतन-आधार अनुकूल और उपयोगी है, वह अनेकांतवादी चिंतन ही है।

केल्विन, हूपर तथा गुडहार्ट एवं बारकर जैसे आधुनिक न्याय समीक्षावादियों ने न्याय की गत्यात्मकता के विषय में विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया है कि 'न्याय में परिवर्तन' और 'न्याय का परिवर्तन' में भेद है। न्याय में परिवर्तन गत्यात्मकता से संबंधित है, जबकि न्याय का परिवर्तन गत्यात्मकता से संबंधित नहीं है। वे यह भी मानते हैं कि न्याय का परिवर्तन नहीं होता क्योंकि न्याय एक अमूर्त एवं पूर्ण धारणा है किंतु जो दृष्ट न्याय है, वह परिवर्तनीय है, क्योंकि ज्ञाता स्वयं अपूर्ण एवं भौतिक है। इसलिए न्याय में परिवर्तन की संभावना सदैव है और विकास का सूत्र भी यही है। जिस दिन न्याय की पूर्ण अमूर्तता पूर्ण वास्तविकता में रूपांतरित हो जाएगी, तब हमें न्याय में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं रहेगी। किंतु जब तक ऐसा न हो, तब तक हमें परिवर्तन को स्वीकारना होगा। इस परिवर्तन की स्वीकृति के लिए औचित्यपूर्ण चिंतन की जो आवश्यकता हमें होगी, उसकी पूर्ति अनेकांतवादी मान्यता से की जा सकती है। इस मान्यता का हम कितने सबल, सार्थक और सफल रूप में उपयोग करते हैं, यह इस पर निर्भर करेगा कि हम अपने चिंतन में कितने अनेकांतवादी हैं। ❖

अनुभूति

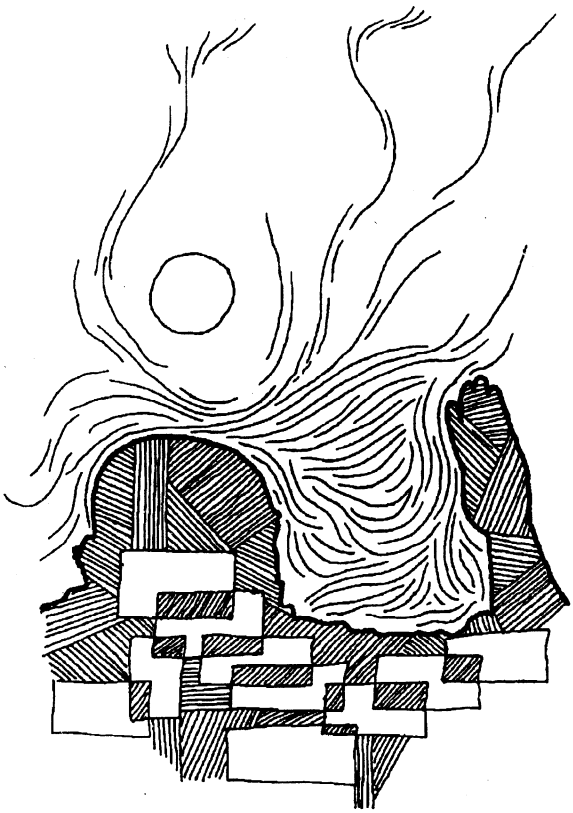

लगता है कि तर्क से मार को जीतना मुश्किल है। तो डपटता हूं, रे दुष्ट! मैंने तुझे पहचान लिया। जाता है कि...!

नाहक क्रोध क्यों करते हैं? कोई राग है। तभी तो क्रोध है। खैर, मैं फिर आऊंगा। कहकर वह अंतर्धान हो जाता है।

यह क्या है? निमिष मात्र में यह सब हो जाता है। लय-उदय, लय-उदय, लय-उदय चल रहा है। शम हो रहा है।

आंख खोलता हूं तो क्या देखता हूं कि वह आकार अब नहीं है। सिर्फ नंगा पहाड़ है। उस पर से हिम पुरुष मुस्करा रहा है। शीतल, नील हंसी है। और उसकी छांह में पहाड़ है। नदी है। घाटी है। और कहीं कुछ तो नहीं है। तो वह सब कल्पना जाल है? तो फिर निर्विकल्प क्या है? वह भी कोई चीज है? स्वभाव है? कुछ है? ऐसा कुछ दीखता नहीं।

फिर जैसे एक मन यह सब ताप-शीत भोग रहा है। और एक मन यह खेल देख रहा है। अंदर-ही-अंदर मुस्करा रहा है। बड़ा अहंकार था। ध्यान भावना का, विपश्यना का। साधक बनते हैं! यह किस चीज की साधना कर रहे हैं?

अहंकार झड़ रहा है। मन धीरे-धीरे सहज हो रहा है। शरीर का ताप भी उस नील सुख में घुल रहा है।

अब वह आकार कतई नहीं है। खड़ी चढ़ाई है। रास्ते की सबसे अधिक ऊंचाई आगे है।

—कृष्णनाथ

मनुष्य अच्छा या बुरा जो कुछ करता है वह उसके अंतर्भावों का परिणाम है। जैसे भाव वैसी अभिव्यक्ति, यह तथ्य है। इसके आधार पर प्रश्न खड़ा होता है कि मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का विधाता है तो वह अवांछनीय प्रवृत्ति क्यों करता है? उसकी हर प्रवृत्ति का परिणाम उसी को भोगना पड़ता है तो वह गलत प्रवृत्ति के प्रेरक भावों को क्यों नहीं छोड़ता? गलत संस्कारों को नहीं बदला जाता है तो जीवन का सुख छिन जाता है, इस जानकारी के बाद भी वह बदलाव की यात्रा क्यों नहीं करता? बदलने में क्या लाभ? और न बदलने में क्या नुकसान है? लाभ-नुकसान के गणित को समझकर भी व्यक्ति क्यों नहीं बदलता है?

लक्खण नहिं पलटै लाखां

• आचार्यश्री तुलसी •

कुछ लोग आस्था के स्वरों को गुनगुनाते हैं। नए यात्रापथ पर प्रस्थान करते हैं। अवरोधों को तोड़कर रास्ता बनाते हैं, संघर्षों से हंसते-हंसते खेलते हैं। धैर्य के साथ आगे बढ़ते हैं और मंजिल तक पहुंच जाते हैं। ऐसे लोग विधायक भावों के अश्व पर सवारी करने वाले होते हैं।

कुछ लोग निराशा की खोह में सोए रहते हैं। वे अतीत में जीते हैं। भविष्य में उड़ान भरते हैं। जो नहीं किया, उसके लिए पछताते हैं। नई आकांक्षाओं के सतरंगे इंद्रधनुष रचते हैं। कभी समय को कोसते हैं, कभी परिस्थिति को दोष देते हैं और कभी अपने भाग्य का रोना रोते हैं। ऐसे लोग निषेधात्मक भावों के खटोले में बैठकर जिंदगी के दिन पूरे करते हैं।

एक पैमाना है आत्म-निरीक्षण का

मनुष्य एक ही प्रकार का जीवन नहीं जी सकता। एकरूपता पुराने व्यंजन की तरह बेस्वाद और पुराने वस्त्र की तरह बेआब होती है। जीवन में विविधता होती है तो जीने के प्रति सहज आकर्षण बना रहता है। संभव है, इसी उद्देश्य से विधायक और निषेधात्मक भावों का अस्तित्व सिरजा गया है। सचाई यह है कि ये दोनों ही प्रकार के भाव मनुष्य में जितने प्रभावशील हैं, अन्य प्राणियों में अपेक्षाकृत कम मात्रा में हैं। सब मनुष्यों में भी इनकी मात्रा समान नहीं होती। कौन व्यक्ति इनसे कितना प्रभावित है? यह जानने के लिए सबसे बड़ा पैमाना है आत्म-निरीक्षण का। यह एक सुचिंतित प्रक्रिया है। इसके द्वारा व्यक्ति मुखौटों की दुनिया से बाहर निकल कर आत्म-साक्षात्कार कर सकता है।

स्वयंवर भावों का

मनुष्य का पूरा व्यक्तित्व भावों पर निर्भर है। फिर भी हर एक व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसमें किस प्रकार के भाव सक्रिय हैं। जिसके मन में यह जिज्ञासा जाग जाती है, उसके लिए समाधान का रास्ता भी बंद नहीं है। जैन आगमों में अठारह प्रकार के पापों का उल्लेख है। हिंसा, असत्य, चोरी, वासना, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, रति-अरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शनशल्य—ये अठारह पाप निषेधात्मक भाव हैं। इनमें कुछ भावों का संबंध समूह के साथ है, कुछ भाव वैयक्तिक हैं और कुछ भाव ऐसे हैं, जो व्यक्ति और समूह दोनों से जुड़े हुए हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ—ये भाव वैयक्तिक और सामुदायिक दोनों हैं। कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद आदि भाव पर-सापेक्ष हैं। समूह में रहने वाला व्यक्ति स्वार्थ, सुविधा, प्रतिष्ठा या प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर इस प्रकार के भावों को जन्म देता है। कुछ व्यक्ति अकारण ही इन निषेधात्मक भावों के शिकार हो जाते हैं। उनके बारे में यही माना जा सकता है कि ऐसे लोग या तो आदत से विवश हैं या आत्म-प्रतिष्ठा, क्रोध आदि की प्रेरणा से अभिभूत हैं।

ऊपर जिन निषेधात्मक भावों की चर्चा की गई है, उनसे विपरीत भावों को विधायक भावों के रूप में पहचाना जा सकता है। इनमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, असंग्रह, सहिष्णुता, कोमलता, सरलता, संतोष, मैत्री, गुणग्राहकता आदि प्रशस्त भावों का समावेश होता है। प्रशस्त और अप्रशस्त भावों के स्वयंवर में कौन व्यक्ति किसका वरण करता है, यह उसकी अपनी समझ पर निर्भर करता है। समझ या विवेक की रोशनी में हर भाव का चेहरा साफ-साफ दिखाई दे सकता है। अपेक्षा इतनी ही है कि उसका वरण करने से पहले व्यक्ति अपनी आंखों का आवरण उतार कर उसे अच्छी तरह से परख ले।

झांकना अपने भीतर

'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं'—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने की बात सीधी तो नहीं है, पर महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः मनुष्य की वृत्ति यह होती है कि वह दूसरों को देखता है। दूसरों का जो भाव या व्यवहार उसे ठीक नहीं लगता, उसी भाव या व्यवहार में वह स्वयं बहता है तो उसे कुछ भान ही नहीं रहता। संभव है, वह अपने बारे में इतना आश्वस्त हो जाता है कि उसका कोई काम गलत होता ही नहीं। यही वह बिंदु है, जहां से बदलाव की दिशा बंद हो जाती है।

स्वभाव-परिवर्तन का सूत्र है विनिवर्तना। विनिवर्तना का अर्थ है निषेधात्मक भावों से अप्रभावित रहने का संकल्प। इस संकल्प की स्वीकृति के साथ ही ऐसा पुरुषार्थ शुरू हो जाता है, जो पहले से प्रभावी भावों को निर्वीर्य बना सके, उनसे छुटकारा दिला सके। इसके लिए गंभीर पर्यालोचन की अपेक्षा रहती है। अपने भीतर झांकने वाला व्यक्ति ही यह बोध पा सकता है कि उसमें कौन-सा भाव अधिक सक्रिय है।

कैसा है मेरा रूप?

भावों का दर्पण सामने रखकर अपना चेहरा देखना आवश्यक है। चेहरा भी बाहरी नहीं, भीतरी देखना है। जब तक वह दिखाई नहीं देगा, व्यक्ति अपने स्वरूप से परिचित नहीं हो सकेगा। स्वरूप-बोध के लिए उसमें जिज्ञासा जगे। मैं कैसा हूं? जिज्ञासा के बाद दूसरी बात है बुभूषा। मैं कुछ होना चाहता हूं। जब तक यह भाव नहीं जागता है, पुरुषार्थ का द्वार नहीं खुल सकता। पुरुषार्थ का दरवाजा खटखटाने के लिए चिकीर्षा—कुछ करने की इच्छा का होना आवश्यक है। अन्यथा व्यक्ति किसी भी दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता।

दिशा-निर्धारण के अभाव में किया गया पुरुषार्थ सार्थक नहीं होता। राजस्थानी में एक कहावत है—'आंधो बंटै जेवड़ी, लारै पाडो खाय।' कोई अंधा व्यक्ति हरी-हरी घास की रस्सी बना रहा था। जितनी रस्सी बनती, उसे वह पीछे की ओर सरका देता। वहां भैंस का पाडा खड़ा था। जितनी रस्सी पीछे सरकती, पाडा उसे चट कर जाता। उस अंधे व्यक्ति का पूरे दिन का परिश्रम पाडे के पेट में गया।

लक्खण नहिं पलटै लाखां

निषेधात्मक भावों में जीने से लाभ है या अलाभ? यह भी चिंतन का एक पहलू है। क्या ये भाव शरीर को स्वस्थ रखते हैं? मन को समाधिस्थ रखते हैं? विचारों के द्वंद्व को समाप्त करते हैं? समूह के साथ समायोजन की अभिवृत्ति जगाते हैं? व्यक्ति को सहिष्णु बनना सिखाते हैं? यदि इन प्रश्नों का उत्तर सकारात्मक है, तो एक बड़ा आश्चर्य है। कोई भी मनुष्य निषेधात्मक भावों की बैसाखी के सहारे ऊर्ध्वारोहण नहीं कर सकता।

निषेधात्मक भावों से न तो स्वास्थ्य मिलता है और न समाधि, और इनकी गिरफ्त से मुक्त होना भी कठिन है। सब कुछ बदल सकता है, पर मनुष्य के संस्कारों का बदलाव बहुत जटिल काम है। कहा जाता है—

बारै कोसां बोली पलटै, फल पलटै पाकां।
जरा आयां केश पलटै, लक्खण नहिं पलटै लाखां।।

बारह कोस के बाद भाषा बदल जाती है। परिपाक होने के बाद फल बदल जाते हैं। बुढ़ापा आने के बाद केशों का रंग बदल जाता है, किंतु मनुष्य का स्वभाव लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं बदलता। इस जनश्रुति को एकांततः सत्य न माना जाए तो भी इतना निश्चित है कि सघन पुरुषार्थ के बिना संस्कार नहीं बदल सकते।

संस्कारों में परिवर्तन हो ही नहीं सकता, यह मान्यता का अभिनिवेश है। यदि इस बात में सचाई होती तो साधना, तपस्या और प्रयोगों की व्यर्थता सिद्ध हो जाती है। फिर न प्रशिक्षण की अपेक्षा रहती है और न प्रयोगों की मूल्यवत्ता प्रमाणित होती है। आज भी हमारी यह आस्था है कि मनुष्य बदल सकता है, बशर्ते कि वह बदलाव के लक्ष्य से प्रतिबद्ध हो। इस भूमिका में उसकी सोच के बिंदु ये होंगे—

- मनुष्य चक्षुष्मान् है या नहीं?
- मनुष्य कुछ देखता है या नहीं?
- मनुष्य में महत्त्वाकांक्षा है या नहीं?
- मनुष्य में स्वार्थी मनोवृत्ति है या नहीं?
- मनुष्य का दृष्टिकोण सुविधावादी है या नहीं?

- मनुष्य का विश्वास परिवर्तन में है या नहीं?
- मनुष्य का पुरुषार्थ परिवर्तन की दिशा में है या नहीं?
- मनुष्य में सहिष्णुता है या नहीं?

निषेधात्मक भावों का परिणाम

ये कुछ ऐसे बिंदु हैं, जो व्यक्ति को अपनी स्थिति के प्रति सचेत करते हैं। वह इस बात का अनुभव करे कि समाज में वही आदमी उपेक्षित या तिरस्कृत होता है, जो निषेधात्मक भावों में जीता है, जिसका आभामंडल मलिन होता है और जो कुछ जानने, बनने तथा करने की स्थिति में नहीं रहता।

गंगा नदी के तट पर बलकोष्ठ नामक चांडाल रहता था। उसकी पत्नी का नाम गौरी था। उसके एक पुत्र था। उसका नाम बल था। कुछ बड़ा होने पर वह हरिकेश नाम से प्रसिद्ध हुआ। एक दिन वह अपने साथियों के साथ खेल रहा था। वह खेल-खेल में लड़ने लगा। उसे खेल-मंडली से बहिष्कृत कर दिया गया।

हरिकेश रुआंसा होकर खड़ा-खड़ा खेल देखने लगा। अचानक वहां एक सांप निकला। लोगों ने उसको पत्थरों से मार डाला। थोड़ी देर बाद वहां एक अलसिया निकला। उसे किसी ने तंग नहीं किया। हरिकेश ने दोनों दृश्य देखे। उसके मन पर गहरी प्रतिक्रिया हुई। उसने सोचा—दुख और तिरस्कार का कारण प्राणी का अपना व्यवहार है। मैं सांप के समान विषैला हूं। इसी कारण मेरे साथियों ने मेरा अपमान किया। यदि मैं अलसिए की तरह निर्विष होता तो अपने साथियों से क्यों बिछुड़ता? चिंतन आगे बढ़ा। उसे जाति-स्मृति ज्ञान हो गया। उसने अपने निषेधात्मक भावों को समझा। उन्हें छोड़ा और साधु बन गया।

जो दिल खोजूं आपना

मनोविज्ञान के अनुसार आत्मख्यापन मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है। हर व्यक्ति की यह आकांक्षा होती है कि उसका वैशिष्ट्य प्रकट हो। दूसरे लोग उसका मूल्यांकन करें, किंतु अन्य लोगों के प्रति उसका दृष्टिकोण सकारात्मक नहीं होता। वह उनकी विशेषताओं में भी कमी देखता है। अपनी बड़ी-से-बड़ी गलती उसे छोटी दिखाई देती है, जबकि दूसरों का साधारण-सा दोष पहाड़ जितना बड़ा हो जाता है। यह दृष्टिकोण का ही अंतर है, जो व्यक्ति के अपने दोषों में अच्छाई का भ्रम पैदा कर देता है। अंतर्मुखी व्यक्ति की दृष्टि इतनी पारदर्शी होती है कि वह बाहर के सब आवरणों को चीरकर अपनी दुर्बलताओं को देख लेता है।

मनुष्य और कुछ देखे या नहीं, इतना अवश्य सोचे कि आनंदमय जीवन कैसे जीया जा सकता है। आनंद का स्रोत कहीं बाहर नहीं है। अपने ही भीतर जो स्रोत है, उसे खोजने की जरूरत है। इस खोज में खपना खुद को ही होगा। 'जिन खोजा तिन पाइया' का सिद्धांत अनुभव की वाणी है। भगवान महावीर ने कहा—'पत्तेयं सायं, पत्तेयं वेयणा'। सुख-दुख अपना-अपना है। कोई किसी को न सुखी बना सकता है और न दुखी बना सकता है। दूसरे लोग तो मात्र बैसाखी बन सकते हैं। उनका सहारा उसी को मिलेगा, जो उन्हें स्वीकार करेगा। अन्यथा बैसाखियां तो जड़ हैं। वे किसी को जबरन चलने के लिए प्रेरित नहीं करेंगी। दूसरों के द्वारा सुख-दुख के निमित्त उपस्थित किए जा सकते हैं, पर संवेदन तभी होगा जब व्यक्ति उन निमित्तों को स्वीकार करेगा।

वर्कशॉप भावों की दुनिया में

मनुष्य अच्छा या बुरा जो कुछ करता है वह उसके अंतर्भावों का परिणाम है। जैसे भाव वैसी अभिव्यक्ति, यह तथ्य है। इसके आधार पर प्रश्न खड़ा होता है कि मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का विधाता है तो वह अवांछनीय प्रवृत्ति क्यों करता है? उसकी हर प्रवृत्ति का परिणाम उसी को भोगना पड़ता है तो वह गलत प्रवृत्ति के प्रेरक भावों को क्यों नहीं छोड़ता? गलत संस्कारों को नहीं बदला जाता है तो जीवन का सुख छिन जाता है, इस जानकारी के बाद भी वह बदलाव की यात्रा क्यों नहीं करता? बदलने में क्या लाभ? और न बदलने में क्या नुकसान है? लाभ-नुकसान के गणित को समझकर भी व्यक्ति क्यों नहीं बदलता है?

बदलाव की प्रक्रिया जटिल हो सकती है, पर वह असंभव नहीं है। जो व्यक्ति बदलना चाहता है उसके लिए एक पंचसूत्री कार्यक्रम निर्धारित है। उसकी क्रियान्विति के लिए एक वर्कशॉप आवश्यक है। वह वर्कशॉप किसी सभागार में नहीं होगी। उसके लिए भावों की दुनिया में प्रवेश करना होगा। उसके पांच अंग हैं—

आस्था, आशा, आत्म-विश्वास, इच्छा-शक्ति, अनुप्रेक्षा अभ्यास।

सबसे पहले मनुष्य के मन में यह आस्था होनी चाहिए कि संस्कारों में परिवर्तन हो सकता है। दूसरे बिंदु पर आशा का दीप प्रज्वलित होता है कि परिवर्तन होगा। तीसरे बिंदु पर आत्म-विश्वास इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि वह परिवर्तन करके रहेगा। चौथा बिंदु विश्वास के अनुरूप इच्छा-शक्ति या संकल्प-शक्ति की पुष्टि पर जाकर ठहरता है। पांचवा बिंदु है अभ्यास। जब तक सफलता न मिले, तब तक निरंतर अभ्यास किया जाए। अनुप्रेक्षा के प्रयोग से भावों को बदला जाए। भाव-परिवर्तन ही व्यवहार में परिवर्तन की बुनियाद है।

उस बुनियाद पर खड़ा होने वाला व्यक्ति ही बदलाव के चमत्कार को देख सकता है।

मनुष्य का जीवन बहुरंगी है। जिंदगी के बदलते रंगों से परिचित होने के लिए भावजगत से परिचित होना होगा। जीवन के रंग प्रशस्त हों, आकर्षक हों, सृजनात्मक हों और अपनी उज्ज्वलता से अंधेरों को दूर करने वाले हों, यह अभीप्सा हर व्यक्ति में होती है। पर अभीप्सा कोई जादुई डंडा नहीं है, जिसे घुमाकर चुटकी बजाते ही सब कुछ हासिल कर लिया जाए। यथार्थ की धरती कंटीली हो सकती है, पर भावों के गुलाब खिलाने की उर्वरता उसी में है। काश! मनुष्य अपने जीवन के यथार्थ को समझे और निषेधात्मक भावों की पकड़ से अपने आपको मुक्त कर सके। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों- कविताओं का स्वागत है

•

प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

•

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

•

लिखावट साफ-सुथरी बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

•

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

•

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

•

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

•

आप चाहें तो कहानी-कविता भी भेज सकते हैं

•

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

•

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

जैन धर्म, दर्शन एवं परंपरा को विहंगम दृष्टि से देखा जाए तो उनका केंद्र-बिंदु समता के अतिरिक्त कुछ नहीं प्रतीत होता।

जैन धर्म का केंद्र-बिंदु

• डॉ. इन्द्रचन्द्र शास्त्री •

प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी के शब्दों में विश्व की सबसे बड़ी समस्या है मनुष्य का स्व-केंद्रित होना। प्रत्येक मनुष्य अपने को केंद्र में रख कर सोचता है, अपने ही सुख-दुख का ध्यान रखता है तथा अपने ही विचारों को सर्वोपरि मानता है। धर्म का लक्ष्य है उसे स्व की परिधि से निकाल कर सर्व की ओर उन्मुख करना। स्व से सर्व की ओर अग्रसर होने के दो प्रेरक तत्त्व रहे हैं—(1) स्वार्थ और (2) परमार्थ। अपने भौतिक अस्तित्व के संरक्षण, धन-संपत्ति तथा अन्य लौकिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए भी मनुष्य अपने स्व को निजी व्यक्तित्व से बढ़ा कर कुल, परिवार, जाति, प्रांत या राष्ट्र तक विस्तृत कर देता है। विभिन्न परिधियों में सीमित परस्पर सहयोग एवं सहानुभूति की इस भावना को कुल-धर्म, जाति-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदि शब्दों से कहा गया। प्राचीन समय में ऐसा कोई लौकिक स्वार्थ नहीं रहा जो मनुष्य को राष्ट्र की सीमा से आगे ले जा सके। बहुत से धर्म राष्ट्र या जाति तक सीमित रहे।

इसके विपरीत कुछ धर्मों में मानवता की समस्याओं को सुलझाने के लिए अध्यात्म का आश्रय लिया गया। उन्होंने दार्शनिक चिंतन द्वारा प्राप्त किया कि भौतिक अस्तित्व तथा बाह्य वस्तुओं के प्रति ममत्व ही सब समस्याओं का बीज है। ऐसे धर्मों के सामने जाति या भूगोल संबंधी कोई परिधि न थी। वे लोकोत्तर धर्म कहे गए।

भारत की लोकोत्तर धर्म-परंपराओं में तीन दृष्टिकोण मिलते हैं। पहला दृष्टिकोण अद्वैतवादी परंपराओं का है। उनकी मान्यता है कि स्व को इतना व्यापक बना दो जिसमें सब कुछ समा जाए। जब तक दूसरा है, भय बना रहेगा। (द्वितीयाद्वैभयम् भवति)। जब सब एक ही हो गए, तो कौन किससे डरेगा, कौन किसकी हिंसा करेगा? दूसरा दृष्टिकोण शून्यवादी परंपराओं का है। उनका कथन है कि परमार्थ सत्य कुछ भी नहीं है। विचार करने पर कोई पदार्थ सत्य सिद्ध नहीं होता। 'यथा-यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा-तथा।' बौद्ध परंपरा ने मुख्यतया इसी बात पर बल दिया है। जब वास्तव में सब शून्य है तो अहंता या ममता कैसी।

उपरोक्त दोनों मान्यताओं का मुख्य आधार तर्क है। लौकिक प्रत्यक्ष उनका समर्थन नहीं करता। लौकिक दृष्टि से बाह्य और आभ्यंतर प्रतीत होने वाली सभी वस्तुएं सत्य हैं। उनमें रहने वाली अनेकता एवं विषमता भी सत्य है। इनका अपलाप नहीं किया जा सकता। फिर भी विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि अनेकता स्वाभाविक है और विषमता परापेक्ष। घट और पट के परमाणुओं में समानता होने पर भी रचना आदि में भेद होने के कारण विषमता हो गई। इसी प्रकार सभी जीवों या आत्माओं में मौलिक समानता होने पर भी विविध प्रकार की विकृतियों के कारण विषमता आ गई।

प्राणियों का पृथक-पृथक अस्तित्व बुरा नहीं है। बुराई या दुखों का कारण परस्पर वैषम्य भावना है। इस वैषम्य बुद्धि को दूर करके प्राणिमात्र के प्रति समता की वृद्धि स्थापित करना जैन धर्म का लक्ष्य बिंदु है। उसकी मान्यता है कि स्व बुरा नहीं है, किंतु दूसरों के प्रति वैषम्य बुद्धि ही बुरी है। जिस प्रकार वैदिक परंपरा में संध्योपासना तथा मुसलमानों में नमाज नित्यकर्म के रूप में विहित हैं, इसी प्रकार जैन गृहस्थों के लिए सामायिक है। उसका अर्थ है, समता की आराधना या उसे जीवन में उतारने का अभ्यास। जैन साधु का तो जीवन-व्रत ही सामायिक कहा जाता है। महाव्रत, तप आदि अन्य सभी बातें उसी के सहायक तत्त्व हैं। क्षेत्र की दृष्टि से समता की इस आराधना के दो विभाग हैं—आचार में समता और विचार में समता। आचार में समता का अर्थ है अहिंसा और यह, जैन आचारशास्त्र का केंद्र-बिंदु है। विचार में समता का अर्थ है स्याद्वाद और यह, जैन दर्शनशास्त्र का केंद्र-बिंदु है।

अहिंसा की व्याख्या करते हुए जैन परंपरा में बताया गया है कि स्वार्थबुद्धि कषाय से प्रेरित होकर, दूसरे के प्राणों को कष्ट पहुंचाना हिंसा है। प्राण दस हैं—पांच ज्ञानेंद्रियां, मन, वचन और शरीर श्वासोच्छ्वास तथा आयु। इसका अर्थ है प्राण ले लेना या शारीरिक कष्ट पहुंचाना ही हिंसा नहीं है, अपितु दूसरे की ज्ञानेंद्रियों पर प्रतिबंध लगाना अर्थात् उन्हें स्वतंत्र होकर देखने, सुनने आदि से रोकना, स्वतंत्र चिंतन एवं भाषण पर प्रतिबंध लगाना एवं स्वतंत्र विचरण में रुकावट डालना भी हिंसा है।

स्याद्वाद का अर्थ है—दूसरे के दृष्टिकोण को उतना ही महत्त्व देना, जितना अपने दृष्टिकोण को दिया जाता है। जैन दर्शन के अनुसार कोई ज्ञान सर्वथा मिथ्या नहीं है। और न सर्वज्ञ से अतिरिक्त अन्य किसी का ज्ञान पूर्ण सत्य है। सभी प्रतीतियां सापेक्ष सत्य हैं, अर्थात् एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से अनेक रूपों में प्रकट किया जा सकता है। वे रूप आपाततः परस्पर विरोधी होने पर भी मिथ्या नहीं हैं। अतः अपनी-अपनी अपेक्षा से प्रत्येक दृष्टिकोण सत्य है। वस्तु अनंत धर्मात्मक है। व्यक्ति अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से किसी एक धर्म को मुख्यता देता है। यदि वह अन्य धर्मों को गौण समझता है तो उसका ज्ञान सत्य है। यदि उनका अपलाप करता है तो उसका ज्ञान मिथ्या है।

आचार और व्यवहार की इस समता को जीवन में उतारने के लिए आचारांग सूत्र में एक उपाय बताया है कि व्यक्ति दूसरे के साथ व्यवहार करते समय, उसके स्थान पर अपने को रखकर देखे और फिर व्यवहार करे। जिस व्यवहार को वह अपने लिए बुरा मानता है, उसे दूसरे के साथ न करे।

वेदांत के अनुसार व्यक्ति के स्व-केंद्रित होने का कारण अविद्या अर्थात् अनात्मा में आत्मबुद्धि है। बौद्ध धर्म के अनुसार इसका कारण तृष्णा है। जैन धर्म के अनुसार विषमता का कारण मोह है। इसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। जीवन में जैसी इनकी उत्कटता घटती जाती है, आत्मा की निर्मलता बढ़ती जाती है और उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। इस दृष्टि से आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं को चार श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। जिस जीव में मोह की उत्कटतम मात्रा है वह मिथ्यात्वी है, अर्थात् वह आत्म-विकास के मार्ग पर आया ही नहीं। वह दृष्टि एवं चरित्र दोनों दृष्टियों से अविकसित है। दूसरी श्रेणी अपेक्षाकृत मंद कषाय वाले उन व्यक्तियों की है जो आत्म-विकास के मार्ग को अच्छा तो मानते हैं, किंतु उस पर चलने में अपने आपको असमर्थ पा रहे हैं। वे सम्यक् दृष्टि हैं, किंतु चरित्र की दृष्टि से अविकसित। तीसरी श्रेणी मंदतर कषाय वाले गृहस्थों की है जो चरित्र को आंशिक रूप से अपनाते हैं। चौथी श्रेणी मंदतम कषाय वाले मुनियों की है जो चरित्र को पूर्णतया अपनाते हैं। कषाय के पूर्णतया नष्ट हो जाने पर व्यक्ति कैवल्य या आत्म विकास की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

उपरोक्त श्रेणी विभाजन का आधार कर्म सिद्धांत है और यह माना गया है कि प्राणियों में विषमता का कारण कर्म बंध है। व्यक्ति के भले-बुरे आचार और विचारों के अनुसार आत्मा के साथ कर्म-पुद्गल बंध जाते हैं और वे ही सुख-दुख आदि का कारण बनते हैं। वे जैसे दूर होते जाते हैं, आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता जाता है, पूर्णतया शुद्ध आत्मा ही परमात्मा कहा जाता है। जितने आत्मा इस प्रकार शुद्ध हो गए हैं, सभी परमात्मा बन गए हैं। उनके अतिरिक्त जगत का रचयिता या नियंता कोई व्यक्ति विशेष नहीं है।

व्यावहारिक क्षेत्र में विषमता का कारण ममत्व या परिग्रह है। वह दो प्रकार का है। बाह्य वस्तुओं का परिग्रह और विचारों का परिग्रह। वस्तुओं का परिग्रह आचार में हिंसा को जन्म देता है और विचारों का परिग्रह विचार संबंधी हिंसा को।

जैन साधुओं के लिए पांच महाव्रतों का विधान है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। वास्तव में देखा जाए तो ये अहिंसा या अपरिग्रह के ही विस्तार हैं। अपरिग्रह के बिना अहिंसा की साधना नहीं हो सकती। ये पांचों महाव्रत जैन साधना के मूल तत्त्व हैं।

जैन धर्म, दर्शन एवं परंपरा को विहंगम दृष्टि से देखा जाए तो उनका केंद्र-बिंदु समता के अतिरिक्त कुछ नहीं प्रतीत होता। वही समता नीचे लिखे चार क्षेत्रों में बंट गई है।

1. आचार में समता—'अहिंसा', जैन आचार का मूल तत्त्व।
2. विचार में समता—'स्याद्वाद'—जैन दर्शन का मूल तत्त्व।
3. प्रयत्न और फल में समता—'कर्म सिद्धांत'—जैन नीतिशास्त्र का मूल तत्त्व।
4. सामाजिक समता—व्यक्ति पूजा के स्थान पर गुण पूजा—जैन संघ व्यवस्था का मूल आधार।

प्रथम तीन समताओं के विषय में संक्षेपतः बताया जा चुका है। चौथी के विषय में कुछ लिखने की आवश्यकता है।

जो व्यक्ति जैन धर्म स्वीकार करता है उसे कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को छोड़ कर सुदेव, सुगुरु और सुधर्म के प्रति विश्वास प्रकट करना होता है। देव आदर्श का कार्य करते

हैं, गुरु उस आदर्श पर पहुंचने के लिए पथ-प्रदर्शक का और धर्म वह पथ है। देव या गुरु के स्थान पर किसी लौकिक या लोकोत्तर व्यक्ति विशेष को नहीं रखा गया। न ही किसी वर्ण विशेष को महत्त्व दिया गया है। किंतु अध्यात्म विकास के द्वारा प्राप्त पदों को महत्त्व दिया गया है। जो विकास की सर्वोच्च भूमिका पर पहुंच गए हैं, वे देव हैं और जो साधक होने पर भी अपेक्षाकृत विकसित हैं, वे गुरु हैं।

जैन परंपरा में नमस्कार मंत्र तथा मंगल पाठ का बहुत महत्त्व है। प्रत्येक कार्य के प्रारंभ में उनका उच्चारण किया जाता है। नमस्कार मंत्र में पांच पदों को नमस्कार है। अर्हंत अर्थात् जीवनमुक्त, सिद्ध अथवा पूर्ण मुक्त ये दोनों देव तत्त्व के रूप में माने जाते हैं। शेष तीन हैं आचार्य, उपाध्याय और साधु। ये तीनों गुरु तत्त्व में आते हैं।

जैन अनुष्ठानों में सामायिक के बाद प्रतिक्रमण का स्थान है। व्यक्ति जानकर या अनजान में किए गए कार्यों का पर्यवेक्षण करता है और उन ग्रहण किए हुए व्रतों में किसी प्रकार की भूल-चूक या स्खलन के लिए पश्चाताप प्रकट करता है।

प्रतिक्रमण के अंत में संसार के समस्त जीवों से क्षमा प्रार्थना करके मैत्री की घोषणा की जाती है। यह घोषणा प्रतिक्रमण का निष्कर्ष है। वह इस प्रकार है—

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।

मित्ती मे सव्व भुएसु, वेरं मज्झणकेणई।।

अर्थात् मैं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूं, सब मुझे क्षमा करें। सब प्राणियों से मेरी मित्रता है, किसी से वैर नहीं है।

संक्षेप में जैन धर्म का लक्ष्य-बिंदु नीचे लिखे सिद्धांतों में प्रकट किया जा सकता है—

1. प्राणिमात्र के प्रति समता की आराधना ही साधना का लक्ष्य है।
2. विषमता का कारण मोह है, विचारों का मोह एकांत या दृष्टि-दोष है। व्यवहार में मोह, चरित्र-दोष है। इन दोनों को दूर करके ही आत्मा परमात्मा बन सकता है।
3. मनुष्य के सुख-दुख पर किसी बाह्य शक्ति का नियंत्रण नहीं है, वह स्वयं ही उनका कर्ता तथा भोक्ता है।
4. मनुष्य सर्वोपरि है। चरित्र-संपन्न होने पर वह देवों का भी पूज्य बन जाता है।
5. मनुष्यों में परस्पर जन्मकृत कोई भेद नहीं है। ब्राह्मण या शूद्र सभी साधना के द्वारा परमपूज्य अर्थात् देवाधिदेव बन सकते हैं।

व्यक्तित्व निर्माण की दृष्टि से देखा जाए तो जैन धर्म में वे सभी तत्त्व मिलते हैं जो पूर्णतया विकसित एवं शक्तिशाली व्यक्तित्व में होने चाहिए। हमारा व्यक्तित्व कितना दुर्बल या सबल है, इसकी कसौटी प्रतिकूल परिस्थिति है। जो मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितियों में घबरा जाता है उसका व्यक्तित्व उतना ही दुर्बल समझना चाहिए। प्रतिकूल परिस्थिति को हम नीचे लिखे तीन भागों में बांट सकते हैं—

1. प्रतिकूल व्यक्ति—जो व्यक्ति हमारा शत्रु है, हमें हानि पहुंचाने वाला है या हमारी रुचि के अनुकूल नहीं है उसके संपर्क में आने पर यदि हम घबरा जाते हैं या मन ही मन कष्ट का अनुभव करते हैं तो यह व्यक्तित्व की पहली दुर्बलता है। जैन दृष्टि से इसका अर्थ होगा हमने अहिंसा को जीवन में नहीं उतारा और सर्वमैत्री का पाठ नहीं पढ़ा।

2. प्रतिकूल विचार—अपने जमे हुए विश्वासों के विपरीत विचार उपस्थित होने पर यदि हम घृणा का अनुभव करते हैं, उन विचारों को नहीं सुनना चाहते या उन पर सहानुभूति के साथ मनन नहीं कर सकते तो यह दूसरी दुर्बलता है। जैन दृष्टि से इसका अर्थ होगा कि हमने स्याद्वाद को जीवन में नहीं उतारा।

3. प्रतिकूल वातारवण—इनके तीन भेद हैं—(क) इष्ट की अप्राप्ति—अर्थात् धन-संपत्ति, सुख-सुविधाएं, परिजन आदि जिन वस्तुओं को हम चाहते हैं, उनका न मिलना, (ख) अनिष्ट की प्राप्ति—अर्थात् रोग, प्रियजन का वियोग, संपत्ति-नाश आदि जिन बातों को हम नहीं चाहते उनका उपस्थित हो जाना, (ग) विघ्न-बाधाएं—अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि में विविध प्रकार की अड़चनें आना।

इन तीनों परिस्थितियों में घबरा जाना व्यक्तित्व की तीसरी दुर्बलता है। जैन दृष्टि से इसका अर्थ होगा हमें कर्म सिद्धांत पर विश्वास नहीं है। दूसरे शब्दों में व्याकुलता, घबराहट एवं उत्साहहीनता के दो कारण हैं। या तो हम परावलंबी हैं अर्थात् हम मानते हैं कि सुख की प्राप्ति आत्मा को छोड़कर अन्य तत्त्वों पर अवलंबित है अथवा ये मानते हैं कि आत्मा दुर्बल होने के कारण प्रतिकूल परिस्थिति एवं विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। जैन धर्म में आत्मा को अनंत चतुष्टयात्मक माना गया है अर्थात् वह अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख या अनंत वीर्य स्वरूप है। सुख को बाहर ढूंढ़ने का अर्थ है हमें आत्मा के अनंत सुख में विश्वास नहीं है। इसी प्रकार विघ्न-बाधाओं के सामने हार मानने का अर्थ है हमें आत्मा के अनंत वीर्य में विश्वास नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म व्यक्तित्व-विकास के लिए आवश्यक सभी तत्त्वों को उपस्थित करता है। ❖

जीवन का अंत सुखद हो, यह सदैव काम्य है। अनशन उसका सर्वोत्कृष्ट प्रयोग है। अनशन मानसिक समाधि का महान प्रयोग है। अनशन कब करना चाहिए? इसके लिए कोई अवस्थाकृत मर्यादा नहीं हो सकती, केवल विवेककृत मर्यादा ही हो सकती है। इस संदर्भ में अध्यात्म-पुरोधा आचार्य भिक्षु की अनुभव-वाणी अत्यंत ही हृदय-स्पर्शी है। उन्होंने कहा था कि जब अनाज का स्वाद मिट्टी जैसा लगने लगे, तब अनशन कर लेना चाहिए।

भिक्षुकाल के प्रभावक अनशन

• मुनि मदनकुमार •

जीना एक कला है, पर मरना उससे भी बड़ी कला है।

समाधिमय जीवन और समाधिमय मृत्यु दोनों मूल्यवान हैं। स्वस्थ और समाधिमय जीवन का अंकन किया जाता है, किंतु समाधिमय मृत्यु का मूल्य भी कम नहीं है। सफल जीवन और सफल मृत्यु की कला का सम्यक् प्रशिक्षण जैन-दर्शन से लिया जा सकता है। जन्म लेना व्यक्ति की नियति है और मृत्यु उसके पौरुष की कहानी है। निश्चय ही समाधि-मरण सफल जीवन का निदर्शन बन जाता है। व्यक्ति जीवनभर क्रियाशील रहता है, संघर्ष झेलता है और अंत में वह मरण का वरण कर लेता है। उसके सफल जीवन का मापक बिंदु बनता है—उसकी मृत्यु।

यों तो मनुष्य की मृत्यु जन्म के साथ ही प्रारंभ हो जाती है। यदि जन्म के साथ मृत्यु प्रारंभ न हो तो फिर मनुष्य कभी मरेगा ही नहीं। इसे जैन-दर्शन की भाषा में 'आवीचि-मरण' कहा जाता है। आयुष्य कर्म का उदय निरंतर बना रहता है और प्रतिक्षण आयुष्य कर्म का वेदन होता रहता है, यह आवीचि-मरण है। जीवन के अंत में होने वाली मृत्यु से बहुत लोग परिचित होते हैं, किंतु आवीचि-मरण से अधिकांश लोग अपरिचित ही बने रहते हैं। आवीचि-मरण को त्याग-तपस्या से और अंतिम मरण को अनशन से सफल किया जाए, यह वांछनीय है।

जीवन का अंत सुखद हो, यह सदैव काम्य है। अनशन उसका सर्वोत्कृष्ट प्रयोग है। अनशन मानसिक समाधि का महान प्रयोग है। अनशन कब करना चाहिए? इसके लिए कोई अवस्थाकृत मर्यादा नहीं हो सकती, केवल विवेककृत मर्यादा ही हो सकती है। इस संदर्भ में अध्यात्म-पुरोधा आचार्य भिक्षु की अनुभव-वाणी अत्यंत ही हृदय-स्पर्शी है। उन्होंने कहा था कि जब अनाज का स्वाद मिट्टी जैसा लगने लगे, तब अनशन कर लेना चाहिए।

उत्तराध्ययन सूत्र का निर्देश है—'लाभंतरे जीविय वूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावधंसी'—जब तक इस शरीर से धर्माराधना और विशिष्टतर उपलब्धियां होती रहें, तब तक इसे धारण किया जाए और इसका पोषण किया जाए। जब यह लगे कि यह शरीर सत्त्वहीन और निस्तेज हो गया है, अब इससे कोई विशिष्ट उपलब्धि नहीं हो रही है तब चिंतनपूर्वक अनशन के द्वारा शरीर का ध्वंस कर डालें। जैन परंपरा में जीवन-मरण का मूल्य नहीं, किंतु समाधि और साध्य-संपूर्ति का मूल्य है। शरीर का मोह और मृत्यु का भय मिटने पर ही अनशन की मनःस्थिति बनती है। विनोबा भावे ने जैन परंपरा का अनुसरण कर मरण का वरण किया, यह एक प्रेरक प्रसंग है।

तेरापंथ की महान परंपरा में अनेक तपःपूत व्यक्तित्व हुए हैं, जिनका जीवन शौर्य और वीर्य की गौरव-गाथा से भरा पड़ा है। तेरापंथ का समग्र इतिहास एक उत्कर्ष का इतिहास है। तेरापंथ का प्रारंभ तेरह संतों से हुआ, किंतु तेरह ही संत अंत तक साथ नहीं दे पाए। केवल छह संत ही अंत तक संघ के अभिन्न अंग बनकर रह सके। इन सभी आत्मार्थी और श्लाघनीय पुरुषों ने अनशन और तपस्यापूर्वक समाधि-मरण का वरण किया। उन्होंने अपनी आत्मा को चरम उत्कर्ष पर पहुंचाने में भारी जूझारूपन दिखलाया। ये छहों मुनिप्रवर तेरापंथ धर्मसंघ रूपी नींव के आदिम प्रस्तर हैं। इन बलिदानी

संतों की आत्म-कथा गौरवपूर्ण है। इन सभी महामुनियों के नाम आदरास्पद और स्मरणीय हैं। संयम की पराकाष्ठा पर पहुंचने वाले मुनियों की स्मृति सचमुच आह्लादकारी और आत्म-तोष देने वाली होती है।

तपोमूर्ति मुनिश्री थिरपालजी और मुनिश्री फतैचंदजी

संसार-संबंध से पिता-पुत्र मुनिश्री थिरपालजी और मुनिश्री फतैचंदजी का जन्म मारवाड़ के लांबिया ग्राम में हुआ था। इन दोनों मुनियों ने आचार्य भिक्षु की प्रव्रज्या से पहले ही आचार्य जयमलजी के टोले में द्रव्य-दीक्षा स्वीकार कर ली थी। आचार्य भिक्षु ने जब आचार-शिथिलता और मिथ्या मान्यताओं के विरोध में महाभिनिष्क्रमण किया, तब ये मुनि भी संत भिक्षु द्वारा प्रवर्तित सत्य-धर्म के अनुगामी बन गए। पूर्व प्रव्रजित होने के कारण महामंगलकारी भिक्षु ने इन्हें भाव-दीक्षा के पश्चात् विशेष सम्मान और रत्नाधिकारी पद प्रदान किया था। आचार्य भिक्षु को यदि निरभिमानता और असंग चेतना का प्रतीक कहा जाए तो इस मुनि-युगल को सौजन्य, सत्य और अनाग्रह की प्रतिमूर्ति कहा जा सकता है। दोनों ही संत बड़े वैरागी और तपस्वी थे। आचार्य भिक्षु स्वयं इन मुनिद्वय को सबके सम्मुख सहर्ष विनम्रतापूर्वक विधिवत् वंदन करते थे और सुखपृच्छा करते थे। जनता की जड़ता को देखकर जब आचार्य भिक्षु धर्म के प्रचार-प्रसार से निराश होकर निवृत्त हो गए तो उन्हें पुनः आशान्वित और प्रतिबद्ध करने का श्रेय इस मुनि-युगल को ही जाता है।

मुनि-युगल के तपःपूत जीवन की गौरव-गाथा अति रोमांचकारी है। वे शीतकाल में सर्दी को और ग्रीष्मकाल में ताप को सहते थे। वर्षाकाल में विविध प्रकार की तपस्या करते थे। बहुधा उत्थित आसन में ध्यान किया करते थे। इस प्रकार वे नाना प्रकार की साधना से अपनी आत्मा को भावित करते थे। गण और गणी के प्रति उनकी प्रगाढ़ आस्था थी। कोई उनसे प्रश्न पूछता, जिज्ञासा करता तो वे सरलमना निःशल्य होकर कहते—तुम आचार्य भिक्षु से चर्चा करो। वे जो कहें, वही प्रमाण है। दोनों ही संत बड़े निस्पृह थे। संयम के प्रति उनका गहरा अनुराग था। वे सदैव मोक्षैषणा में लीन रहते थे। आत्म-विस्तार की चिंता से उनका चित्त अभिभूत था।

मुनि फतैचंदजी काकड़ाभूत तपस्वी थे। एक लंबी तपस्या के बाद उनका देहावसान हो गया। वि.सं. 1831 में वे दोनों संत बरलू पधारे थे। वहां मुनिश्री फतैचंदजी ने 37 दिन की दीर्घ तपस्या की। पारणे के दिन मुनिश्री थिरपालजी अनेक घरों में भिक्षार्थ गए। घर-घर घूमने के बावजूद भी उन्हें केवल एक घर में बाजरे की ठंडी घाट ही मिल सकी। दीर्घ तपस्वी मुनिश्री फतैचंदजी ने निस्पृह और उदासीन भाव से उसी ठंडी घाट से पारणा कर लिया। इतनी लंबी तपस्या और ठंडी घाट से पारणा—इस विसंगति के कारण निर्मोही मुनि फतैचंदजी उसी दिन अर्द्ध-रात्रि में काल-धर्म को प्राप्त हो गए।

पुत्र-मुनि के वियोग से मुनि थिरपालजी और अधिक संयमाग्र और स्थिरचित्त बन गए। वि.सं. 1832 में मुनि थिरपालजी खैरवा पधारे और वहां उन्होंने अपने जीवन को तपस्या और संलेखना में झोंक दिया। उनके संलेखना तप और समाधिपूर्वक अनशन का इतिहास आज भी उपलब्ध है। उन्होंने वि.सं. 1832 आषाढ़ सुदी 1 से संलेखना-तप प्रारंभ कर दिया। संलेखना-काल में आपने 20, 16, 14, 9, 8 आदि अनेक महान तपस्याएं कीं। 4 महीने और 26 दिन के संलेखना-काल में आपने केवल 17 बार ही आहार (पारणा) लिया। पारणे में आहार की मात्रा बहुत स्वल्प ही रहती थी। शरीर को कृश कर आपने कार्तिक बदी 1 सोमवार के दिन संथारा स्वीकार कर लिया। आपका संथारा वि.सं. 1833 कार्तिक बदी 11 गुरुवार के दिन खैरवा में सानंद संपन्न हो गया। आपको 11 दिन का संथारा आया। उस वर्ष भाद्रपद मास दो थे। मुनि फतैचंदजी के स्वर्गवास के बाद करीब 1 वर्ष 5 माह बाद मुनि थिरपालजी का भी स्वर्गवास हो गया। आपके संथारे के उपलक्ष्य में श्रावक-श्राविकाओं में अपार धर्मोद्योत हुआ। त्याग-प्रत्याख्यान की झड़ी लग गई। खूब व्रताराधना हुई। लोगों का मेला-सा लग गया। शील, तप, व्रत, संवर, सामायिक, पौषध, वैराग्य आदि की अतिशय अभिवृद्धि हुई।

महामंगलकारी आचार्यश्री भिक्षु

भावसंधक आचार्य भिक्षु तेरापंथ धर्मसंघ के आद्य प्रवर्तक हैं। वे सत्य के महान् उपासक थे। जैन-शासन के पुनरुद्धारक थे। वे आगम-वाणी के प्रति अतिशय आस्थाशील थे। आगमानुमोदित आचार उनके जीवन का आदर्श था। वे सत्य मार्ग से चले और एक शक्तिशाली धर्मसंघ बन गया। उनके पास छोटा किंतु एक शक्तिसंपन्न साधु-समाज बन गया। उन्होंने संख्या को महत्त्व न देकर गुणवत्ता पर ध्यान केंद्रित किया, इसलिए वे एक सशक्त संघ के नायक बन कर उभरे। धर्म का उद्योत करने वाले वे एक अद्भुत महामानव थे। उनका सारा जीवन पौरुष की अनगिनत घटनाओं से भरा पड़ा है। ऐसे महापुरुष को संथारा न आता तो सचमुच आश्चर्य होता। वे प्रारंभ से ही इतने सजग योगी थे कि जीवन में कभी प्रमाद से आहत नहीं हुए। वे संघर्ष और मौत से हमेशा मुकाबला करते रहे। मौत का भय उन्हें कभी नहीं सताया।

भगवान महावीर के शासन को दीपाने वाले भिक्षु स्वामी अनोखे आत्मार्थी पुरुष थे। सैकड़ों-हजारों लोगों को प्रतिबोध देकर आपने अपने मनुष्य जीवन को सफलतम बना लिया। आप प्रवचन-प्रभावना में रत रहने वाले अतिविशिष्ट मेधावी महापुरुष थे। प्रवचन की अतिशय प्रभावना करने वाला तीर्थंकर गोत्र का बंध भी कर लेता है, ऐसा भगवान ने ज्ञाता सूत्र में कहा है। बहुश्रुत और शासनस्तंभ मुनिश्री वेणीरामजी लिखते हैं—'आपने जिन-शासन की अपूर्व प्रभावना की है। आपने आदिनाथ भगवान की तरह धर्म का उद्योत और उद्भव कर महान कार्य किया है, अतः आपके तीर्थंकर नाम-गोत्र कंर्म का बंध संभव लगता है।'

आचार्य भिक्षु ने साधिक 43 वर्ष संयमी-जीवन जीया। वे स्वनामधन्य और स्वपौरुष सिद्ध आचार्य थे। भला सिंह को जंगल का राजा कौन बनाता है? कौन उसके गले को पुष्पहार से सुशोभित करता है? भिक्षु सचमुच सिंह-पुरुष थे। वे अपने ही पराक्रम से आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित और विभूषित हो गए। उनकी महान साधना और संयम पराकाष्ठा विरोधियों के लिए भी आकर्षण का विषय बन गई। उन्होंने 43 वर्ष 1 महीना और 29 दिन तक आचार्यत्व के महान पद को गौरवान्वित किया। संत भिक्षु जीवन भर तक परिव्रजन करते रहे। वे सदैव स्वस्थ रहे, इसलिए उन्हें कहीं स्थिरवासी नहीं बनना पड़ा। उन्होंने अपना अंतिम चातुर्मास सिरियारी में किया।

आचार्य भिक्षु ने संवत्सरी का निर्जल उपवास किया। पिपासा-परिषह को समभाव से सहन किया। षष्ठि के दिन स्वल्प आहार और औषध-प्रयोग किया, किंतु शरीर ने उसे स्वीकार नहीं किया और वह ऊर्ध्वविरेक के द्वारा विसर्जित हो गया। भिक्षु अपने शरीर का सार खींचने के लिए कृत संकल्प थे. अतः उस दिन फिर आहार-सेवन नहीं किया। शरीर क्रमशः कमजोर हो रहा था, पर वे उसके प्रति असंग बने रहे। सप्तमी और अष्टमी के दिन उन्होंने स्वल्प आहार ग्रहण किया और तत्क्षण त्याग कर दिया। वे अंतर्चेतना को उद्दीप्त करने के लिए प्रतिबद्ध थे। उनका समग्र ध्यान अब शरीर से हटकर चेतना पर केंद्रित हो रहा था। आहार के प्रति आकांक्षा अब समाप्तप्रायः थी। अपने विनीत अंतेवासी मुनिश्री खेतसीजी और मुनिश्री भारमलजी के विशेष आग्रह को स्वीकार कर आपने क्रमशः नवमी और दशमी के दिन नाममात्र आहार ग्रहण कर तत्काल प्रत्याख्यान कर दिया। इस प्रकार आपकी सजगता उत्तरोत्तर प्रवर्द्धमान होती रही। एकादशी के दिन औषध का अपवाद रखकर आपने उपवास पचख लिया और साथ ही यह उद्घोषणा कर दी कि 'आज से आहार लेने का भाव नहीं है।' इस संकल्प से बारस को बेला हो गया। अब आपका अंतर्मन यावज्जीवन अनशन के लिए समुद्यत हो रहा था। उसी दिन आपने अर्हत् और सिद्ध भगवान को नमस्कार कर एक मुहूर्त दिन अवशेष रहने पर उत्कृष्ट वैराग्य-भाव से संथारा स्वीकार कर लिया। संथारे का संवाद इतस्ततः हवा और सौरभ की तरह फैल गया। जिसने भी यह संवाद सुना, वह श्रद्धा से अभिभूत हो उठा। मानो भक्त और अभक्त का भेद ही मिट गया।

अनाबाध सुखाभिकांक्षी भिक्षु अधिकतम आत्मस्थ और ध्यानस्थ बन गए। बारस की रात सानंद बीत गई। तेरस का मंगल प्रभात उदित हो गया। आपका मुखमंडल एक नए तेज के साथ दमक रहा था। उपस्थित होने वाले दर्शनार्थियों के दिलों में उल्लास, आनंद और वैराग्य का संचार हो रहा था। भिक्षु की प्रसन्नचित्तता सब में व्याप्त हो रही थी। लगभग प्रहर दिन चढ़ने पर भिक्षु ने स्वहस्त से जल ग्रहण किया और पुनः ध्यानस्थ हो गए। लगभग डेढ़ प्रहर दिन चढ़ने पर भिक्षु ने कुछ अतींद्रिय-सी लगने वाली उद्घोषणाएं कीं, पर यथार्थतः उन्हें कोई नहीं पकड़ पाया। स्वल्प समय बीतने के साथ ही वे घोषणाएं जब सचाई में परिणत होने लगीं तो सबका ध्यान यकायक भिक्षु की उद्घोषणाओं की ओर खिंच गया, पर भिक्षु का वाणी-सामर्थ्य स्वल्पतर हो चुका था। अतः यह अंततः रहस्य ही बना रहा कि भिक्षु की उद्घोषणाओं का आधार क्या था? वे अतींद्रिय चेतना के दर्पण में झांक रहे थे या अनुभव की चेतना में?

आचार्य भिक्षु बहुत देर से लेटे हुए थे। संतों ने स्वीकृति लेकर भिक्षु को बिठा दिया। भिक्षु ध्यानासन मुद्रा में विराज गए। उनकी समाधिस्थ अवस्था उत्प्रेरक बन रही थी। देखने वालों को वे पूर्णतया स्वस्थ प्रतीत हो रहे थे। चार तीर्थ का ठाठ लग रहा था। ध्यान-मुद्रा में ही वे बैठे-बैठे देवलोक पधार गए। भिक्षु को सात भक्त का अनशन आया, जिसमें सात प्रहर का काल संथारे में बीता। भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी मंगलवार के दिन अढ़ाई प्रहर बीतने पर भिक्षु भौतिक देह को छोड़कर ऊर्ध्वलोक की यात्रा पर चले गए। शेष रही वह नश्वर देह, जिसे सुधी साधुओं ने विसर्जित कर दिया। अब वह लक्षणयुक्त देह श्रावक-समाज के अधिकार में आ गई। उच्च सम्मान के साथ श्रावक-समाज ने उस अद्भुत देह को पंचभूत को समर्पित कर दिया। आचार्य भिक्षु का विरह बड़ा ही हृदय-विदारक था, पर गुणशील साधुओं ने अपने चित्त को यथार्थ से भावित किया। आचार्यकल्प मुनिश्री हेमराजजी स्वामी ने उस वृत्तांत की बहुत मार्मिक अभिव्यक्ति देते हुए लिखा है—

अहो अहो अथिर संसार ए, संजोग जठेइ विजोग।
पूज सरीखा पुरुष था, पोहता आज परलोग।।

सुख दुःख संसार में, हर कोहू कूं होय।
ग्यांनी भुगते ग्यांन सूं, मूरख भुगते रोय।।
तीर्थंकर चक्रव्रत मोटका, काल न छोड़ै कोय।
जेतो आऊखो. बांधियो, तेतो भुगतै सोय।।

मंगलपुरुष आचार्य भारमलजी

आचार्य भारमलजी आचार्य भिक्षु के पट्टधर शिष्य थे। उनकी द्रव्य दीक्षा और भाव-दीक्षा दोनों भिक्षु के कर-कमलों से संपन्न हुई थी। सर्वप्रथम आपने दस वर्ष की लघु वय में अपने पिता किसनोजी के साथ बागौर गांव में दीक्षा ग्रहण कर मुनि-जीवन स्वीकार किया था। यह प्रसंग वि.सं. 1813 का है। तब से ही भिक्षु उनके हृदय की धड़कन और श्वास के स्पंदन बन गए थे। सोते-जागते भिक्षु सदैव चित्त.में बसे रहते थे। भाव-दीक्षा के बाद आपकी कड़ी कसौटी हुई, आप उसमें शत-प्रतिशत खरे उतरे। जन्म देने वाले पिता किसनोजी को छोड़कर आपने संयम जीवन देने वाले पिता भिक्षु को स्वीकार किया। आप आचार्य भिक्षु के प्रति सर्वात्मना समर्पित थे। दो देह और एक आत्मा जैसा अभिन्न संबंध था। आप आचार्य भिक्षु के विश्वस्त अंतेवासी थे। जो अच्छा शिष्य होता है, वही अच्छा गुरु बन सकता है। इसी सचाई ने आपको गुरु परंपरा में प्रतिष्ठित कर दिया। लगभग 29 वर्ष की वय में आप युवाचार्य-पद पर अभिषिक्त कर दिए गए। यह गुरु-कृपा का एक महान निदर्शन है। भिक्षु का वात्सल्य और आपका समर्पण भाव, दोनों बेजोड़ थे। आप विनय, आचार और अनुशासन की प्रतिमूर्ति थे। भिक्षु के प्रति आपकी अंतरंग प्रीति थी। आप दोनों की जोड़ी अद्भुत थी। आचार्य भिक्षु और आचार्य भारमलजी के आत्मीय संबंधों को देखकर पिछले भवों में संबंध होने का आभास होने लगता है।

आचार्य भारमलजी ने अपना अंतिम चातुर्मास केलवा में किया। चातुर्मास से पूर्व ही आपने चौविहार तेले से दृढ़ निश्चय के साथ संलेखना-तप का शुभारंभ कर दिया था। नव माह के इस प्रलंब संलेखना-काल में दस दिन की दीर्घ तपस्या के अतिरिक्त अनेक प्रकार की तपस्याएं कीं। तपस्या के प्रति आपका अनुराग उत्तरोत्तर बढ़ता रहा। अंतिम चातुर्मास में आठ संत सहवर्ती थे। सब सुयोग होने पर भी स्वास्थ्य की अनुकूलता कम रही। नव मास के केलवा-प्रवास के पश्चात् आपके सुपावन चरण राजनगर की ओर बढ़ गए। सेवार्थी मुनिगण सजग थे। शरीर व्याधि से घिर रहा था, अतः उन्होंने अवसर देखकर आचार्यप्रवर को औषध और जल का अपवाद रखकर सागारी संथारा करवा दिया। दूसरे दिन पुनः शारीरिक स्थिति अत्यधिक कमजोर होने पर मुनि खेतसीजी और मुनि रायचंदजी ने आचार्यप्रवर को यावज्जीवन के लिए चौविहार संथारा पचखा दिया, वे बेहोशी में चले गए। उसी दिन अर्द्ध-रात्रि में आचार्य भारमलजी नश्वर शरीर को छोड़ सुरवास पधार गए। आपको कुल मिलाकर नव प्रहर का संथारा आया, जिसमें छह प्रहर सागारी तथा शेष तीन प्रहर का चौविहार संथारा आया। आचार्य भिक्षु की तरह आप भी मंगलवार को स्वर्गवास पधार गए। आपका जन्म और अनशनपूर्वक पंडित-मरण दोनों मेवाड़ में हो गए। भिक्षु का आदि से अंत तक साथ निभाने वाले आप एकमात्र अनोखे साथी थे। भिक्षु की महान परंपरा का आपने 18 वर्ष तक कुशलतापूर्वक निर्वहन किया। गण की बहुत श्रीवृद्धि की। 61 वर्ष 6 महीने और 9 दिन तक शुद्ध संयम जीवन जीकर आपने अपने मनुष्य भव को कृतार्थ कर दिया। आपकी सर्वायु 75 वर्ष थी।

विनयमूर्ति मुनि टोकरजी और हरनाथजी

मुनि टोकरजी और हरनाथजी दोनों घर छोड़कर आचार्य रुघनाथजी के संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। राजनगर चातुर्मास के समय आप दोनों आचार्य भिक्षु के सहगामी हुए। भिक्षु की विचार-क्रांति के प्रति आप पूर्णतया समर्पित थे। भिक्षु के प्रति आपकी अगाध श्रद्धा थी। केलवा की अंधेरी ओरी में भाव-दीक्षा स्वीकरण के अवसर पर आप दोनों समुपस्थित थे। तेरह की संख्या में आप दोनों की भागीदारी थी। आप दोनों मुनि निरभिमान, विनीत और इंगिताकार संपन्न साधु थे। आचार्य भारमलजी को युवराज पदवी देने पर भी आपके मन में कोई अनुचित प्रतिक्रिया नहीं हुई थी, जबकि आप दोनों संत भारमलजी से बड़े थे। दोनों ही संतों की विनयशीलता, भद्रता और निःशल्यता स्तुत्य थी। वैयावृत्य आपके जीवन का आदर्श था। आज्ञा और अनुशासन के प्रति आप बहुत सजग रहते थे। हर समय भिक्षु के समक्ष हाजिर रहना आपका जीवन-व्रत बन गया था। परछंदानुवर्तिता और निरतिचार संयम-पालन आपके जीवन के उत्कृष्ट गुण थे, आपके जीवन की सर्वोपरि उपलब्धि यह थी कि आप आचार्य भिक्षु द्वारा प्रशंसनीय बने। आगम-शिक्षा से अनुप्राणित जीवनशैली तथा आचार और विनय की पराकाष्ठा ने आपको शीर्षस्थ मुनि का दर्जा प्रदान किया था।

आप दोनों सदैव भिक्षु स्वामी की मंगल सन्निधि में रहे। मुनिश्री टोकरजी ने वि.सं. 1838 के शेषकाल में बगड़ी में संथारा कर तथा मुनिश्री हरनाथजी ने ढूंढार में संथारा कर पंडित-मरण का वरण किया। मुनिश्री हरनाथजी का स्वर्गवास वि.सं. 1846 के आस-पास हुआ। ❖

'कहां गया था?' चमेली ने कठोर स्वर से पूछा।
कोई उत्तर नहीं मिला। अपराधी की भांति सिर झुक गया। सड़ से एक चिमटा उसकी पीठ पर जड़ दिया। किंतु गूंगा रोया नहीं। वह अपने अपराध को जानता था। चमेली की आंखों से दो बूंदें जमीन पर टपक गईं। तब गूंगा भी रो दिया।

गूंगे

• रांगेय राघव •

'शकुंतला क्या नहीं जानती?'

'कौन? शकुंतला! कुछ भी नहीं जानती।'

'क्यों साहब? क्या नहीं जानती? ऐसा क्या काम है जो वह नहीं कर सकती?'

'वह उस गूंगे को नहीं बुला सकती।'

'अच्छा, बुला दिया तो?'

'बुला दिया!'

बालिका ने एक बार कहने वाली की ओर द्वेष से देखा और चिल्ला उठी—'दूं-दे!'

गूंगे ने नहीं सुना। तमाम स्त्रियां खिलखिलाकर हंस पड़ीं। बालिका ने मुंह छिपा लिया।

जन्म से वज्र बहरा होने के कारण वह गूंगा है। उसने अपने कानों पर हाथ रखकर इशारा किया। सब लोगों को उसमें दिलचस्पी पैदा हो गई जैसे तोते को राम-राम कहते सुनकर उसके प्रति हृदय में एक आनंद-मिश्रित कुतूहल उत्पन्न हो जाता है।

चमेली ने अंगुलियों से इंगित किया—फिर?

मुंह के आगे इशारा करके गूंगे ने बताया—भाग गई। कौन? फिर समझ में आया। जब छोटा ही था तब 'मां' जो घूंघट काढ़ती थी, छोड़ गई। क्योंकि 'बाप', अर्थात् बड़ी-बड़ी मूंछें, मर गया था। और फिर उसे पाला है—किसने? यह तो समझ में नहीं आया, पर वे लोग मारते बहुत हैं।

करुणा ने सबको घेर लिया। वह बोलने की कितनी जबर्दस्त कोशिश करता है! लेकिन नतीजा कुछ नहीं, केवल कर्कश कांय-कांय का ढेर। अस्फुट ध्वनियों का वमन, जैसे आदिम मानव अभी भाषा बनाने में जी-जान से लड़ रहा हो।

चमेली ने पहली बार अनुभव किया कि यदि गले में काकल तनिक ठीक नहीं हो तो मनुष्य क्या से क्या हो जाता है। कैसी यातना है कि वह अपने हृदय को उगल देना चाहता है किंतु उगल नहीं पाता।

सुशीला ने आगे बढ़कर इशारा किया—मुंह खोल! और गूंगे ने मुंह खोल दिया। लेकिन उसमें कुछ दिखाई नहीं दिया। पूछा—गले में कौआ है? गूंगा समझ गया। इशारे से ही बता दिया—किसी ने बचपन में गला साफ करने की कोशिश में काट दिया। और वह ऐसे बोलता है जैसे घायल पशु कराह उठता है, शिकायत करता है जैसे कुत्ता चिल्ला रहा हो और कभी-कभी उसके स्वर में ज्वालामुखी के विस्फोट की-सी भयानकता थपेड़े मार उठती है। वह जानता है कि वह सुन नहीं सकता और बताकर मुस्कराता है। वह जानता है कि उसकी बोली को कोई नहीं समझता, फिर भी बोलता है।

सुशीला ने कहा—इशारे गजब के करता है। अक्ल बहुत तेज है। पूछा—खाता क्या है, कहां से मिलता है?

वह कहानी ऐसी है, जिसे सुनकर सब स्तब्ध बैठे हैं। हलवाई के यहां रात-भर लड्डू बनाए हैं; कढ़ाई मांजी है, नौकरी की है, कपड़े धोए हैं, सबके इशारे हैं, लेकिन—

गूंगे का स्वर चीत्कार में परिणत हो गया। सीने पर हाथ मारकर इशारा किया—हाथ फैलाकर कभी नहीं मांगा, भीख नहीं लेता: भुजाओं पर हाथ रखकर इशारा किया—मेहनत का खाता हूं, और पेट बजाकर दिखाया—इसके लिए, इसके लिए...

अनाथाश्रम के बच्चों को देखकर चमेली रोती थी। आज भी उसकी आंखों में पानी आ गया। वह सदा से ही कोमल है। सुशीला से बोली—इसे नौकर भी तो नहीं रखा जा सकता।

पर गूंगा उस समय समझ रहा था। वह दूध ले आता है। कच्चा मंगाना हो, थन काढ़ने का इशारा कीजिए; औटा हुआ मंगाना हो, हलवाई जैसे एक बर्तन से दूध दूसरे बर्तन में उठाकर डालता है, वैसी बात कहिए। साग मंगाना हो गोल-गोल कीजिए या लंबी अंगुली दिखाकर समझाइए... और भी... और भी...

और चमेली ने इशारा किया—हमारे यहां रहेगा?

गूंगे ने स्वीकार तो किया किंतु हाथ से इशारा किया—क्या देगी? खाना?

'हां', चमेली ने सिर हिलाया।

'कुछ पैसे?'

चार अंगुलियां दिखा दीं। गूंगे ने सीने पर हाथ मारकर जैसे कहा—तैयार है। चार रुपये।

सुशीला ने कहा—पछताओगी। भला यह क्या काम करेगा?

'मुझे तो दया आती है बेचारे पर,' चमेली ने उत्तर दिया—'न हो, बच्चों की तबीयत बहलेगी।'

घर पर बुआ मारती थी, फूफा मारता था, क्योंकि उन्होंने उसे पाला था। वे चाहते थे कि बाजार में पल्लेदारी करे, बारह-चौदह आने कमाकर लाए और उन्हें दे दे, बदले में वे उसके सामने बाजरे और चने की रोटियां डाल दें। अब गूंगा घर भी नहीं जाता। यहीं काम करता है। बच्चे चिढ़ाते हैं। कभी नाराज नहीं होता। चमेली के पति सीधे-सादे आदमी हैं। पल जाएगा बेचारा, किंतु वे जानते हैं कि मनुष्य की करुणा की भावना उसके भीतर गूंगेपन की प्रतिच्छाया है, जब वह बहुत कुछ करना चाहता है, किंतु कर नहीं पाता। इसी तरह दिन बीत रहे हैं।

चमेली ने पुकारा—गूंगे!

किंतु कोई उत्तर नहीं आया, उठकर ढूंढ़ा—कुछ पता नहीं लगा।

बसंता ने कहा—मुझे तो कुछ नहीं मालूम।

'भाग गया होगा', पति का उदासीन स्वर सुनाई दिया। सचमुच वह भाग गया था। कुछ भी समझ में नहीं आया। चुपचाप जाकर खाना पकाने लगी। क्यों भाग गया? नाली का कीड़ा! एक छत उठाकर सिर पर रख दी, फिर भी मन नहीं भरा। दुनिया हंसती है, हमारे घर को अब अजायबघर का नाम मिल गया है... किसलिए...

जब बच्चे और वह भी खाकर उठ गए तो चमेली बची रोटियां कटोरदान में रखकर उठने लगी। एकाएक द्वार पर कोई छाया हिल उठी। वह गूंगा था। हाथ से इशारा किया—भूखा हूं।

'काम तो करता नहीं, भिखारी।' फेंक दीं उसकी ओर रोटियां। रोष से पीठ मोड़कर खड़ी हो गई। किंतु गूंगा खड़ा रहा। रोटियां छुईं तक नहीं। देर तक दोनों चुप रहे। फिर न जाने क्यों, गूंगे ने रोटियां उठा लीं और खाने लगा। चमेली ने गिलासों में दूध भर दिया। देखा, गूंगा खा चुका है। उठी और हाथ में चिमटा लेकर उसके पास खड़ी हो गई।

'कहां गया था?' चमेली ने कठोर स्वर से पूछा।

कोई उत्तर नहीं मिला। अपराधी की भांति सिर झुक गया। सड़ से एक चिमटा उसकी पीठ पर जड़ दिया। किंतु गूंगा रोया नहीं। वह अपने अपराध को जानता था। चमेली की आंखों से दो बूंदें जमीन पर टपक गईं। तब गूंगा भी रो दिया।

और फिर यह भी होने लगा कि गूंगा जब चाहे भाग जाता, फिर लौट आता। उसे जगह-जगह नौकरी करके भाग जाने की आदत पड़ गई थी। और चमेली सोचती कि उसने उस दिन भीख ली थी या ममता की ठोकर को निस्संकोच स्वीकार कर लिया था?

बसंता ने कसकर गूंगे के चपत जड़ दी। गूंगे का हाथ उठा और न जाने क्यों अपने आप रुक गया। उसकी आंखों में पानी भर आया और वह रोने लगा। उसका रुदन इतना कर्कश था कि चमेली को चूल्हा छोड़कर उठ आना पड़ा। गूंगा उसे देखकर इशारों से कुछ समझाने लगा। देर तक चमेली उससे पूछती रही। उसकी समझ में इतना ही आया कि खेलते-खेलते बंसता ने उसे मार दिया था।

बसंता ने कहा—अम्मां! यह मुझे मारना चाहता था।

'क्यों रे?' चमेली ने गूंगे की ओर देखकर कहा। वह इस समय भी नहीं भूली थी कि गूंगा कुछ नहीं सुन सकता। लेकिन गूंगा भाव-भंगिमा से समझ गया। उसने चमेली का

हाथ पकड़ लिया। एक क्षण को चमेली को लगा जैसे उसी के पुत्र ने आज उसका हाथ पकड़ लिया था। एकाएक घृणा से उसने हाथ छुड़ा लिया। पुत्र के प्रति मंगलकामना ने उसे ऐसा करने को मजबूर कर दिया।

कहीं उसका भी बेटा गूंगा होता, वह भी ऐसे ही दुख उठाता। वह कुछ भी नहीं सोच सकी। एक बार फिर गूंगे के प्रति हृदय में ममता भर आई। वह लौटकर चूल्हे पर जा बैठी, जिसमें अंदर आग थी, लेकिन उसी आग से वह सब पक रहा था जिससे सबसे भयानक आग बुझती है—पेट की आग, जिसके कारण आदमी गुलाम हो जाता है। उसे अनुभव हुआ कि गूंगे में बसंता से कहीं अधिक शारीरिक बल था। कभी भी गूंगे की भांति शक्ति.से बसंता ने उसका हाथ नहीं पकड़ा था। लेकिन फिर भी गूंगे ने अपना उठा हाथ बसंता पर नहीं चलाया।

रोटी जल रही थी। झट से पलट दी। वह पक रही थी; इसी से बसंता बसंता है... गूंगा गूंगा है...

चमेली को विस्मय हुआ। गूंगा शायद यह समझता है कि बसंता मालिक का बेटा है, उस पर वह हाथ नहीं चला सकता। मन-ही-मन थोड़ा विक्षोभ भी हुआ, किंतु पुत्र की ममता ने इस विषय पर चादर डाल दी। और फिर याद आया, उसने उसका हाथ पकड़ा था। शायद इसीलिए कि उसे बसंता को दंड देना ही चाहिए, यह उसको अधिकार है...।

किंतु वह तब समझ नहीं सकी और उसने सुना गूंगा कभी-कभी कराह उठता था। चमेली उठकर भाग गई। कुछ सोचकर रसोई में लौट आई और रात की बासी रोटी लेकर निकली।

'गूंगे!' उसनें पुकारा।

कान के न जाने किस पर्दे में कोई चेतना है कि गूंगा उसकी आवाज को कभी अनसुना नहीं कर सकता; वह आया। उसकी आंखों में पानी भरा था। जैसे उनमें एक शिकायत थी, पक्षपात के प्रति तिरस्कार था। चमेली को लगा कि लड़का बहुत तेज है। बरबस ही उसके होठों पर मुस्कान छा गई। कहा—ले, खा ले। और हाथ बढ़ा दिया।

गूंगा इस स्वर की, इस सबकी उपेक्षा नहीं कर सकता। वह हंस पड़ा। अगर उसका रोना एक अजीब दर्दनाक आवाज थी तो यह हंसना और कुछ नहीं—एक अचानक गुर्राहट-सी चमेली के कानों में बज उठी। उस अमानवीय स्वर को सुनकर वह भीतर ही भीतर कांप उठी। यह उसने क्या किया था? उसने एक पशु पाला था जिसके हृदय में मनुष्यों की-सी वेदना थी।

घृणा से विक्षुब्ध होकर चमेली ने कहा—क्यों रे, तूने चोरी की है?

गूंगा चुप हो गया। उसने अपना सिर झुका लिया। चमेली एक बार क्रोध से कांप उठी, देर तक उसकी ओर घूरती रही। सोचा—मारने से यह ठीक नहीं हो सकता। अपराध को स्वीकार कराके दंड न देना ही शायद कुछ असर करे। और फिर कौन मेरा अपना है। रहना हो तो ठीक से रहे, नहीं तो फिर जाकर सड़क पर कुत्तों की तरह जूठन पर जिंदगी बिताए, दर-दर अपमानित और लांछित...।

आगे बढ़कर गूंगे का हाथ पकड़ लिया और द्वार की ओर इशारा करके दिखाया—निकल जा!

गूंगा जैसे समझा नहीं। बड़ी-बड़ी आंखों को फाड़े देखता रहा। कुछ कहने को शायद एक बार होंठ भी खुले किंतु कोई स्वर नहीं निकला। चमेली वैसे ही कठोर बनी रही। अबके मुंह से भी साथ-साथ निकल गया—जाओ, निकल जाओ। ढंग से काम नहीं करना है तो तुम्हारा यहां कोई काम नहीं। नौकर की तरह रहना है रहो, नहीं बाहर जाओ। यहां तुम्हारे नखरे कोई नहीं उठा सकता। किसी को भी इतनी फुर्सत नहीं है। समझे!

और फिर चमेली आवेश में आकर चिल्ला उठी—मक्कार, बदमाश! पहले कहता था भीख नहीं मांगता, और सबसे भीख मांगता है। रोज-रोज भाग जाता है, पत्ते चाटने की आदत पड़ गई है। कुत्ते की दुम क्या कभी सीधी होगी? नहीं। नहीं रखना है हमें, जा, तू इसी वक्त निकल जा...।

किंतु वह क्षोभ, वह क्रोध, सब उसके सामने निष्फल हो गए, जैसे मंदिर की मूर्ति कोई उत्तर नहीं देती, वैसे ही उसने भी कुछ नहीं कहा। केवल इतना समझ सका कि मालकिन नाराज है और निकल जाने को कह रही है। इसी पर उसे अचरज और अविश्वास हो रहा है।

चमेली अपने-आप लज्जित हो गई। कैसी मूर्खा है वह! बहरे से जाने क्या-क्या कह रही थी? वही क्या कुछ सुनता है?

हाथ पकड़कर जोर से एक झटका दिया और उसे दरवाजे के बाहर धकेलकर निकाल दिया। गूंगा धीरे-धीरे चला गया। चमेली देखती रही।

करीब घंटे-भर बाद शकुंतला और बसंता दोनों चिल्ला उठे—अम्मां! अम्मां!!

'क्या है?' चमेली ने ऊपर ही से पूछा।

'गूंगा...' बसंता ने कहा। किंतु कहने के पहले ही नीचे उतरकर देखा—गूंगा खून से भीग रहा था। उसका सिर फट गया था। वह सड़क के लड़कों से पिटकर आया था, क्योंकि गूंगा होने के नाते वह उनसे दबना नहीं चाहता था... दरवाजे की दहलीज पर सिर रखकर वह कुत्ते की तरह चिल्ला रहा था...।

और चमेली चुपचाप देखती रही, देखती रही कि इस मूक अवसाद में युगों का हाहाकार भरकर गूंज रहा है।

और ये गूंगे... अनेक-अनेक हो, संसार में भिन्न-भिन्न रूपों में छा गए हैं, जो कहना चाहते हैं पर कह नहीं पाते। जिनके हृदय की प्रतिहिंसा न्याय और अन्याय को परखकर भी अत्याचार को चुनौती नहीं दे सकती, क्योंकि बोलने के लिए स्वर होकर भी—स्वर में अर्थ नहीं है, क्योंकि वे असमर्थ हैं।

और चमेली सोचती है, आज दिन ऐसा कौन है जो गूंगा नहीं है। किसका हृदय समाज, राष्ट्र, धर्म और व्यक्ति के प्रति विद्वेष से, घृणा से नहीं छटपटाता, किंतु फिर भी कृत्रिम सुख की छलना अपने जालों में उसे नहीं फांस देती—क्योंकि वह स्नेह चाहता है, समानता चाहता है!

❖

पैसे के आधार पर निभती और चलती हुई व्यवस्था और तज्जन्य त्रास को यद्यपि हम सभी झेल रहे हैं, पर सार्थक वे बनते हैं जो उससे लड़ते और जूझते भी हैं। भारतवर्ष के ही नहीं, और देशों के महापुरुषों ने भी अपने जीवन के चरित्र से प्रत्यक्ष किया कि सच्चा जीवन पैसे की अधीनता में नहीं आता। यहां के संतों, ऋषियों की अखंड परंपरा को तो क्या कहिए, पर क्या उन्नत माने जाने वाले पाश्चात्य देश के मसीह प्रभु ईसा ने धनिक पुत्र को नहीं कहा था कि वह लौट जाए, पहले अपना सब धन लुटा आए और फिर स्वर्ग-राज्य के मार्ग की सोचे?

दुनिया में मैं तुम और मेरा तुम्हारा है। मैं अधिक इसी शर्त पर पा सकता हूं कि तुम्हारे लिए थोड़ा ही छोड़ूं। तो इस तरह के खींच-तान वाला जगत सचमुच पैसे के हिसाब के भरोसे ही चल और निभ सकता है। दूसरी कोई पद्धति उस स्वार्थ के जंगल में कैसे यत्किंचित भी व्यवस्था और सामाजिकता रख पाएगी? पैसे के हिसाब-किताब के बल पर हम क्रमशः अपनी सभ्यता और संस्कृति को आगे ठेलते जा रहे हैं। लेकिन इस सामाजिकता और सभ्यता का उत्कर्ष उनके द्वारा प्राप्त होता रहा, और आगे भी उन्हीं के द्वारा प्राप्त होता रहेगा, जो पैसे की उपयोगिता और आवश्यकता पहचानते हुए भी वहीं रुक नहीं जाते, बल्कि उसके असंग्रह और अपरिग्रह में सभ्यता की सच्ची सार्थकता देख पाते हैं। फिर वे उस दर्शन को अपने जीवन और चलन में उतारते और स्वयं मुक्तात्मा एवं मुक्तचेता बनने के साथ, मानो शेष सब में भी स्वाधीनता का भाव जगा आते हैं।

—जैनेन्द्र कुमार

राजेन्द्र उपाध्याय की कविताएं

चिनार

किसी चिनार की उम्र न पूछो
किसी बूढ़े देवदार की उम्र न पूछो
किसी झील की उम्र न पूछो
किसी धरती की उम्र न पूछो

पेड़ था आसमां था जमीन थी
झील थी तब भी
जब मैं नहीं था
तब भी रहेगी झील-जमीन-पेड़-आसमां
जब मैं नहीं रहूंगा

छाया देते थे चिनार मेरे पिता को
छाया देते हैं ये मुझको
छाया देंगे वे मेरे बेटे को
जब कभी वह इनकी गोद में आएगा
धरती रहेगी इनके कारण सुखदा सर्वदा

ये हैं तो धरती है, ये नहीं हैं तो धरती नहीं है
ये हैं तो मैं हूं, ये नहीं हैं तो मैं नहीं हूं।

पेड़-1

एक पेड़ के नाम पर है मेरा नाम
एक पेड़ के नाम पर है मेरे गांव का नाम
एक पेड़ के नाम पर है मेरी मां का नाम

एक पेड़ मेरा पिता है
एक पेड़ मेरा गांव है
मैं एक पेड़ हूं

मेरा पता
मेरा ठिकाना एक पेड़ की कोटर है
मैं एक पंछी हूं

एक पेड़ की जड़ें
मेरा बचपन है
एक पेड़ की जड़ें मेरी जवानी
मेरा बुढ़ापा एक पेड़ की बूढ़ी होती जड़ें हैं

एक पेड़ की छांह में
मैं कभी पैदा हुआ
एक पेड़ की छांह में
मैं कभी मरूंगा...

पेड़-2

'पेड़ पर तुमने लिखी हैं बहुत कविताएं
अब बंद करो
अब कटते पेड़ों को कविता में मत लाओ
यह न बताओ कि हम आरी चला रहे हैं उन पर'

मैं तो लिखूंगा उस पर कविताएं
जब तक वह मेरी दुनिया में है
मेरा हाथ थामे दुख में
जब तक वह छाया है
अक्सर झुलसाती गर्मी में
मैं उसका हूं वह मेरा है

मैं लिखता हूं उस पर कविताएं
जैसे किसी दोस्त पर लिखता हूं

दोस्त मर जाते हैं एक दिन
कविता में आकर
पेड़ फिर भी हरा रहता है

मैं उसकी जड़ों के सहारे
इस पृथ्वी के भीतर जाना चाहता हूं
मैं उसकी पत्तियों के सहारे
आसमान छूना चाहता हूं

मैं न रहूंगा
मेरी कविता न रहेगी
पेड़ फिर भी हरा रहेगा।

❖❖

शीलन

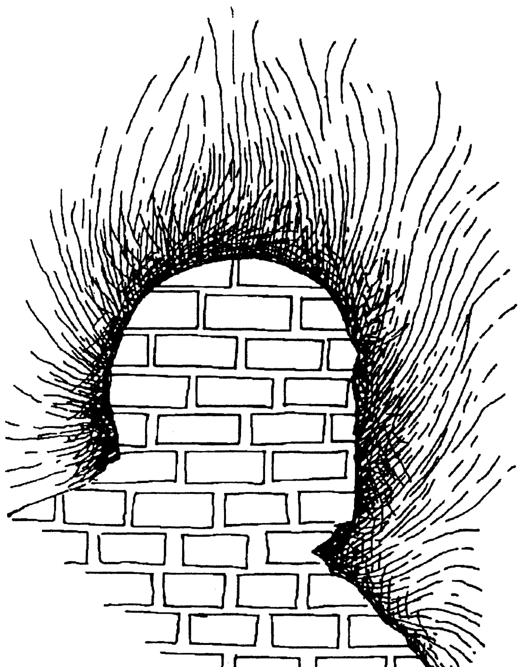

हम लोगों का एक विशिष्ट धर्म है, उसी धर्म के हम अनुयायी हैं। जो नया है, जो सरस है, जो अनास्वादित है, उसी के हम उपासक हैं। प्राचीन में नवीनता को, जड़ में चेतना को, प्रौढ़ों में तरुण को और बंधन के बीच असीम को हम ला बैठाते हैं। हम अतीत इतिहास–लब्ध ज्ञान को हमेशा मानने को तैयार नहीं हैं। हम अनंत पथ के यात्री अवश्य हैं, किंतु हमें अजाना पथ ही भाता है—अजाना भविष्य ही हमें प्रिय है। हम चाहते हैं—'द राइट टु मेक ब्लंडर्स' अर्थात् 'भूल करने का अधिकार'। तभी तो हमारे स्वभाव के प्रति सभी सहानुभूतिशील नहीं होते। हम बहुतों के लिए रचना–शून्य और श्रीविहीन हैं।

—**सुभाषचंद्र बोस**

'तरुणाई के सपने' से

विकास का इतिहास उपादान और निमित्त दोनों के योग से बनता है। उपादान प्रबल है, पर निमित्त अनुकूल न हो तो व्यक्ति चाहकर भी आगे नहीं बढ़ पाता। निमित्तों का योग मिलता रहे पर उपादान कमजोर है, तब भी व्यक्ति विकास की दौड़ में पीछे रह जाता है। उपादान मजबूत हो तथा अनुकूल निमित्तों का योग भी बराबर मिलता रहे तो विकास की दुरूह यात्रा भी निर्बाध आगे बढ़ती रहती है।

श्रद्धा : जड़ों का अभिसिंचन

• साध्वी मुदितयशा •

रात्रि का नीरव, निस्तब्ध वातावरण। चारों ओर अंधकार का एकछत्र साम्राज्य। सब गहरी नींद में सोए थे। अकस्मात् भयंकर तूफान आया। विशालकाय वृक्षों का अस्तित्व डगमगाने लगा। कई बड़े-बड़े वृक्ष धराशायी हो गए। उन्हीं के परिपार्श्व में अवस्थित लघुकाय वृक्ष भय से प्रकंपित होने लगे। उन्हें प्रकंपित होते देख किसी राहगीर ने पूछ लिया—तुम लोग इस तरह कांप क्यों रहे हो? क्या तुम्हें अपने पूर्वजों के वियोग का दुख है? अथवा अपने ही अस्तित्व की सुरक्षा का भय सता रहा है? उन लघुकाय वृक्षों ने कहा— अपने पूर्वज वृक्षों की दशा देखकर हम भयभीत हैं। न जाने कब हवा का तेज झोंका आ जाए और हमारे अस्तित्व को ही समाप्त कर दे।

राहगीर ने सत्य का उद्घाटन करते हुए कहा—देखो, तुम्हारे ये पूर्वज वृक्ष तूफान के कारण धराशायी नहीं हुए। इनके धराशायी होने का मूल कारण है—इनकी जड़ों का खोखलापन। तुम लोग अपनी जड़ें मजबूत बनाओ। बड़े से बड़ा तूफान भी तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। उन वृक्षों को नया बोधपाठ मिल गया।

अध्यात्म की जड़ है—आस्था। जिसकी आस्था की जड़ें मजबूत हैं, वह विघ्नों के चक्रव्यूह को भेदकर बाहर निकल जाता है। सफलता के उच्चतम शिखर तक पहुंच सकता है। यदि आस्था की जड़ें कमजोर हैं तो हवा का हल्का सा झोंका भी हत-प्रहत कर देता है। आस्था हमारी प्राणवायु है। जब तक प्राणवायु है, जीवन है। प्राणवायु समाप्त, जीवन समाप्त।

आस्था का मार्ग श्रद्धा, समर्पण और विनम्रता का मार्ग है। नेतृत्व की सफलता की प्रथम शर्त है—आस्था और आत्मविश्वास। संगठन भी वही चिरजीवी बनता है जिसके सदस्य आस्थावान होते हैं। किसी भी संगठन की सफलता के तीन मुख्य आधार माने गए हैं—नेता के प्रति आस्था, साथियों के प्रति आस्था और नियमों के प्रति आस्था।

भारतीय जनमानस सहज श्रद्धाप्रधान रहा है। श्रद्धावान व्यक्ति ही ज्ञानसंपन्न बनता है। श्रद्धावान व्यक्ति ही चरित्रसंपन्न बनता है। श्रद्धा का अर्थ है—सघन इच्छा अथवा तीव्र आकर्षण। सर्वप्रथम मन की धरती पर इच्छा का अंकुर प्रस्फुटित होता है। वही इच्छा घनीभूत होकर संकल्प का पर्याय बन जाती है। मन में जैसा संकल्प होता है उसी के अनुरूप प्रकंपन बनने लगते हैं और एक क्षण आता है कि व्यक्ति की इच्छा साकार हो जाती है। सामान्य व्यक्ति इसे दैविक चमत्कार भी मान बैठता है। वस्तुतः यह व्यक्ति की अपनी आस्था व श्रद्धा का चमत्कार है, जहां श्रद्धा का प्रकर्ष होता है—भीतर के रसायन बदल जाते हैं। अतीत में ऐसी चामत्कारिक घटनाएं यदाकदा होती रही हैं। वर्तमान भी ऐसे प्रसंगों से अछूता नहीं है। मनोविज्ञान की भाषा में यह सारा 'मानस प्रत्यय' है। जो कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि श्रद्धा के बल पर व्यक्ति बड़ी से बड़ी कठिनाई को पार कर सकता है।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है—हम श्रद्धा किसके प्रति करें? हमारी आस्था का आलंबन अथवा केंद्र-बिंदु क्या हो? इस संदर्भ में अनेक मतवाद प्रचलित हैं। जैन परंपरा में आस्था का मूल आधार है—आत्मा की पवित्रता। जैन परंपरा

में वंदनीय वे होते हैं जो वीतराग हैं, जो मोह से अमोह बन चुके। वंदनीय वे होते हैं जो वीतरागता के पथ पर अग्रसर हैं, अमोह की साधना ही जिनका पवित्र ध्येय है। वंदनीय है—वीतरागता अथवा अमोह की अवस्था।

अर्हत् अमोह बन चुके। गुरु मोहविलय की साधना में संलग्न होते हैं। इतना ही नहीं, वे दूसरों को भी साधना की दिशा में पुरुषार्थ हेतु प्रेरित करते रहते हैं। धर्म मोहविलय की साधना का पवित्र पथ है। इसीलिए हमारे प्राचीन ग्रंथों में देव, गुरु और धर्म को रत्नत्रयी की संज्ञा दी गई। हमारी आस्था का केंद्र भी यही रत्नत्रयी है। देव, गुरु और धर्म के प्रति आस्थाशील व्यक्ति कभी दिग्भ्रांत नहीं होता। वह इस त्रयी के सहारे बड़ी से बड़ी बाधा पर विजय प्राप्त कर लेता है।

हमारी आस्था का पहला आलंबन है—अर्हत्। अर्हत् देव हैं। वे हमारी साधना के परम आदर्श हैं। अर्हत् वे कहलाते हैं जिनका मन-रूपी समुद्र राग-द्वेष की तरंगों से सर्वथा निस्तरंग बन चुका। वर्तमान युग रागप्रधान है इसीलिए वीतराग के प्रति आस्था की बात और अधिक प्रासंगिक हो जाती है।

बीसवीं सदी भौतिक पदार्थों के विकास की सदी रही है। इस सदी ने मनुष्य को सुविधाएं दी। भोग के अधिकतम साधन दिए। विज्ञापनों के द्वारा मनुष्य की कामनाओं को तीव्रता से उभारने का प्रयास किया। उसी का परिणाम है—पदार्थ की तीव्र आसक्ति व इच्छाओं का असीम विस्तार। अर्हत् इच्छा और आसक्ति से सर्वथा उपरत होते हैं। वे अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनंद व अनंत शक्ति के धारक होते हैं। जैन परंपरा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी अर्हताओं का परिपूर्ण विकास कर अर्हत् बन सकता है। अर्हत् की भूमिका तक पहुंचने की एक ही कसौटी है, और वह है—आत्मा की पवित्रता।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो प्रबंधन का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—लक्ष्य का निर्धारण। यह सफलता का आधारसूत्र भी है। लक्ष्य सामने रहता है तो चरण अपने आप उसी दिशा में गतिशील हो उठते हैं। इसलिए हमारी आस्था का पहला केंद्र-बिंदु है—अर्हत्। वही हमारा लक्ष्य है और वही गंतव्य है।

अर्हत् सदा, सब जगह, नहीं होते। जैसे-जैसे समय बदलता है, स्थितियां भी बदलती रहती हैं। एक समय आता है, एक क्षेत्र में अर्हतों का पूर्णतया अभाव हो जाता है। जैन भूगोल के अभिमत से पांच भरत और पांच ऐरावत—ये दस क्षेत्र ऐसे हैं जहां एक समय के बाद तीर्थंकरों का ही नहीं, केवली, मनपर्ययज्ञानी, विशिष्ट अवधिज्ञानी व पूर्वो के धारक आचार्यों व मुनियों का भी अभाव हो जाता है। उस समय अर्हतों का प्रतिनिधित्व करते हैं—आचार्य अथवा गुरु।

लोकभाषा में माता-पिता व अध्यापक को भी गुरु कहा जाता है। प्रस्तुत संदर्भ में गुरु का तात्पर्य उस महापुरुष से है जो कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है। जो आत्मोपलब्धि का रास्ता दिखाता है।

विकास का इतिहास उपादान और निमित्त दोनों के योग से बनता है। उपादान प्रबल है, पर निमित्त अनुकूल न हो तो व्यक्ति चाहकर भी आगे नहीं बढ़ पाता। निमित्तों का योग मिलता रहे पर उपादान कमजोर है, तब भी व्यक्ति विकास की दौड़ में पीछे रह जाता है। उपादान मजबूत हो तथा अनुकूल निमित्तों का योग भी बराबर मिलता रहे तो विकास की दुरूह यात्रा भी निर्बाध आगे बढ़ती रहती है।

जीवन की सफलता का एक बहुत बड़ा निमित्त है—अच्छे गुरु का मार्गदर्शन। गुरु हमें साधना के गुर सिखलाता है। वैदिक परंपरा में गुरु को इतना महत्त्व दिया गया कि व्यक्ति के लिए मृत्यु से पूर्व देवताओं और पितरों की तरह गुरु के ऋण से भी मुक्त होना आवश्यक माना गया है। किसी ने पूछ लिया—क्या तुम्हें परमात्मा मिल गया? उत्तर मिला—नहीं। प्रश्नोत्तर की श्रृंखला आगे चली। तुम्हें परमात्मा क्यों नहीं मिला? क्योंकि मुझे सही मार्ग नहीं मिला। तुम्हें सही मार्ग क्यों नहीं मिला? क्योंकि मुझे अच्छे गुरु का योग नहीं मिला। अच्छे गुरु का योग मिलता है तो व्यक्ति को सही मार्ग की प्राप्ति होती है। सही मार्ग मिलने पर मंजिल स्वयं द्वार पर आकर दस्तक दे देती है।

गुरु का उपकार इतना महान होता है कि उसके सामने सारे उपकार हलके पड़ जाते हैं। हरिवंश पुराण में एक प्रसंग आता है। एक बार चारण मुनि के समक्ष श्रावक चारुदत्त और दो विद्याधर विनयपूर्वक बैठे हुए थे। उसी समय स्वर्ग से दो देवता आए। उन्होंने मुनि को छोड़कर पहले श्रावक चारुदत्त को नमस्कार किया। विद्याधरों द्वारा कारण पूछे जाने पर उन देवों ने कहा—इस चारुदत्त श्रावक ने हम दोनों को जिनधर्म का उपदेश दिया था। इसने हमारी यथार्थबोध-रूपी आंख को खोला था। अतः यह हमारे लिए परम उपकारी व साक्षात् गुरु है। सचमुच बहुत महत्त्व है जीवन में गुरु का। गुरु अंधकार से प्रकाश तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाता है। इसलिए हमारी आस्था का एक केंद्र-बिंदु है—गुरु। गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण लक्ष्य की संप्राप्ति का एक सशक्त सोपान है।

आस्था का तीसरा और महत्त्वपूर्ण आलंबन है—धर्म। धर्म चेतना का स्वभाव है। व्यक्ति जब स्वभाव को विस्मृत कर विभाव में प्रवेश करता है तब धर्म से दूर चला जाता है। धर्म का अर्थ है—प्राणी मात्र के प्रति अहिंसा और आत्मौपम्य का भाव। धर्म का अर्थ है—संयम और समता की चेतना का विकास।

धर्म के चार मुख्य द्वार हैं—शांति, मुक्ति, ऋजुता और मृदुता। धार्मिक वह होता है जो सहन करना जानता है, प्रतिकूलता में भी जिसके आवेग प्रशांत-उपशांत रहते हैं, जो अनासक्ति का जीवन जीता है, जिसके क्रोध, अहंकार आदि सहज प्रतनु होते हैं। धार्मिक वह होता है जो निश्छल-निश्छिद्र होता है, जिसके व्यवहारों में मृदुता व वाणी में माधुर्य झलकता है। इसीलिए महावीर ने कहा—यदि तुम्हें धर्म के राजप्रासाद में प्रवेश पाना है तो पहले इन चार दरवाजों को पार करना होगा।

धर्म के प्रति आस्था का अर्थ है—आत्मा के प्रति आस्था। जिसकी आत्मा में सुदृढ़ आस्था होती है वह विषमताओं में भी विचलित नहीं होता। अर्हभक के समक्ष अनेक उपसर्ग आए। उसे विचलित करने के प्रयास किए गए। बार-बार मृत्यु का भय दिखाया गया पर उसकी आस्था अविचल थी। वह कायोत्सर्ग में निश्चल-निश्चेष्ट खड़ा रहा। उपद्रव स्वतः शांत हो गए। परीक्षा लेने वाला देव भी चरणों में प्रणत हो गया। चारों ओर अर्हभक की दृढ़धर्मिता की जय-जयकार होने लगी।

निश्चय ही अपनी आत्मा में अवस्थान ही धर्म है। वही वीतराग जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित मोक्ष का मार्ग है। योगेन्द्रदेव ने 'योगसार' ग्रंथ में धर्म का स्वरूप निर्देश करते हुए लिखा है—

धम्मु ण पढियइँ होइ धम्मु ण पोत्था पिच्छियइँ।
धम्मु ण मठियपएसि धम्मुण मत्था लुँचियइँ।।
राय रोस वे परिहरिवि जो अधाणि बसेइ।
सो धम्मु वि जिण उत्तिमउ जो पंचम गई णेइ।।

शास्त्रों का अध्ययन कर लेना धर्म नहीं है और न ही पुस्तक व पिच्छी रखना धर्म है। किसी मठ में रहना अथवा केशलोच कराना भी धर्म की कसौटी नहीं है। धर्म का अर्थ है—राग और द्वेष का परिहार कर अपनी आत्मा में वास करना। जिनदेव ने उत्तम धर्म की परिभाषा यही की है। यही धर्म मोक्ष-रूप पंचमगति की उपलब्धि कराने वाला है। जिसके मन में धर्म के प्रति आस्था है, उसे कोई विचलित नहीं कर सकता। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

वृक्ष का मूल मजबूत हो, स्थिर हो—यह जितना अपेक्षित है उतना ही यह भी अपेक्षित है कि हर वसंत में वह नई कोंपलों को धारण करे, परिधान बदले, नए-नए फल आएं, नए व्यक्तियों को छाया दें। मौलिकता की सुरक्षा गतिशीलता का ह्रास करने वाली न हो। तभी जीवंत व्यक्तित्व का निर्माण संभव है। जो व्यक्ति केवल अतीत से ही स्वयं को, अपने परिवार के किशोर एवं युवावर्ग को चिपकाए रखना चाहता है, वह प्रगति की बहती धारा में अवरोध पैदा करता है, व्यक्तित्व-गत्यात्मकता की हिंसा करता है।

कालचक्र और जेनरेशन-गेप

• साध्वी श्रुतयशा •

कालचक्र तीन आयामों—कल (बीता हुआ), आज और कल (आने वाला कल) में आबद्ध है। हर बीता हुआ कल आज का जनक है और आने वाला कल आज की नींव पर खड़ा है। ये तीनों मिलकर एक नहीं हो सकते। काल की संहति संभव नहीं। पर इनमें कालक्रम के स्तर पर परस्पर सामंजस्य सदा बना रहता है। काल के इन तीनों आयामों में 'जेनरेशन-गेप' के रूप में असामंजस्य भी प्रकट होता है और पीढ़ियों के बीच इस अंतराल से कई समस्याएं भी उपस्थित होती रही हैं।

'जेनरेशन-गेप' की समस्या सदियों पूर्व भी थी, आज भी है और भविष्य में भी रहेगी। हां, आनुपातिक दृष्टि से यह कम या अधिक रूप से प्रकट होती रहती है। पिछले तीन-चार दशकों में तकनीकी ज्ञान-विज्ञान का जो विकास हुआ है और प्रौद्योगिकी एवं संचार-साधनों में जो अभूतपूर्व परिवर्तन हुए हैं, मानव को जो अनेक भौतिक संसाधन उपलब्ध कराए हैं उसने सुलभ द्रुतगामिता और वैश्वीकरण को जन्म दिया है। विश्व के अनेक देशों की सभ्यता और संस्कृति को जानने, पहचानने और जीने की ललक से सांस्कृतिक मूल्यों के संक्रमण का खतरा भी पैदा हुआ है। भौतिक वस्तुओं के प्रसार से जीवन-शैली और जीवन-मूल्य दोनों ही क्रांतिकारी रूप से प्रभावित हुए है। फलतः 'जेरनरेशन-गेप' का वर्तमान रूप कुछ अधिक समस्यात्मक रूप में उभरा है।

हर समाज, देश और काल में दो पीढ़ियां होती ही हैं। एक नई पीढ़ी, जो युवावस्था के दौर से गुजर रही है—जिसमें अदम्य साहस, असीम उत्साह एवं कुछ कर गुजरने की ललक होती है और दूसरी पीढ़ी वह होती है जिसे हम पुरानी पीढ़ी कह सकते हैं। इसके सदस्य बुजुर्ग, अनुभवी एवं अपेक्षाकृत धैर्यसंपन्न होते हैं। दोनों पीढ़ियों की अपनी अलग-अलग मानसिकता होती है। दृष्टिकोण एवं चिंतन का प्रकार भिन्न होता है, आकांक्षाएं एवं अपेक्षाएं भिन्न होती हैं। उनकी अपनी भावनाएं एवं मजबूरियां भी होती हैं। 'जेनरेशन-गेप' मूल्यों का वह संघर्ष है, जो इन दोनों पीढ़ियों में रहने वाली भिन्नताओं के आधार पर एक प्रकार के अलगाव या भेद का भाव उत्पन्न करता है। जिसके कारण नई पीढ़ी तो पुरानी पीढ़ी को दकियानूसी, अनावश्यक हस्तक्षेप करने वाली, रूढ़ियों में कैद रहने वाली समझती है और दूसरी ओर पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी को अकर्मण्य, अहंकारी और नाकारा समझ बैठती है। दोनों के मध्य भावात्मक विग्रह, विरोधाभास एवं वैमनस्य का भाव पैदा हो जाता है। फलस्वरूप एक ओर जहां युवावर्ग अपनी सोच एवं शक्ति का काफी हद तक स्वतंत्र रूप से रचनात्मक उपयोग नहीं कर पाता, वहीं प्रौढ़ वर्ग शक्ति के अभाव में अपने अनुभव से उज्ज्वल भविष्य का निर्माण नहीं कर पाता। दोनों में पनपने वाला मूल्यों का संघर्ष स्वस्थ समाज की संरचना में बाधक बन जाता है। 'जेनरेशन-गेप' के कुछ कारण यहां विर्मशनीय हैं—

एकांगी अवधारणा

मानवीय मस्तिष्क की एक खूबी है कि वह हमेशा अतीत में गुण देखता है। 'ओल्ड इज गोल्ड'—यह एक सामान्य अवधारणा है। हर युग में व्यक्तियों को यह कहते

सुना जा सकता है कि हमारे जमाने में समाज अच्छा था। लोग बड़े मेहनती थे। 'हम लोग' बड़ों का इतना कहना मानते थे। आजकल के बच्चे शरारती होते हैं। युवक अकर्मण्य हो गए हैं। कोई किसी की आज्ञा तो मानना चाहता ही नहीं, आदि-आदि। जब तक यह एकांगी धारणा काम करती रहेगी, केवल अतीत के गुणों से वर्तमान की बुराइयों की तुलना चलती रहेगी, केवल 'कल' के सकारात्मक पक्ष को ही देखा जाता रहेगा तब तक 'जेनरेशन-गेप' की समस्या कैसे समाहित होगी?

परिस्थितिजनित भिन्नताएं

बुजुर्ग व्यक्ति प्रारंभ में अपने परिवार के किशोरों एवं युवकों को विकास के अवसर प्रदान करते हैं। अपनी हैसियत के अनुसार उनकी अनुकूलता का भी ध्यान रखते हैं। जितना हो सके उनको सुख-सुविधाएं एवं भौतिक संसाधन भी उपलब्ध कराते रहते हैं। फिर जब वे उन सुख-सुविधाओं के आदी होने लगते हैं और उनकी मांग बढ़ने लगती है तब उन्हें अहसास होता है कि वे यह क्यों करते हैं? उदाहरण के लिए एक पिता मेहनत-मजदूरी करके अपने बच्चे को 'पब्लिक स्कूल' में पढ़ाता है, उसे साइकिल मंगवा कर देता है। लड़का थोड़ा बड़ा होता है तो वह स्कूटर पर घूमता है, फिल्म देखता है, तब पिता उसे कोसता है कि हमने तो अपने यौवन में कभी यह नहीं किया। अब यह क्यों करता है? उस समय पिता यह नहीं सोचता कि उसे यह माहौल आखिर किसने दिया? और जब उसकी और उसके लड़के के बचपन की परिस्थितियां ही एक समान नहीं तो उन दोनों का यौवन कैसे समान होगा?

दायित्व-बोध का अभाव

आज जनसंख्या बढ़ी है। गरीबी व बेरोजगारी बढ़ी है। अपराध व सामाजिक शोषण बढ़ रहा है, पर इसका दायित्व किसका है? यदि 'क' एक परिवार का मुखिया है, अच्छा जिम्मेवार नागरिक एवं प्रामाणिक व्यापारी है तो क्या उसके पुत्र भी अच्छे नहीं होंगे? यदि पुरानी पीढ़ी अच्छी है तो नई पीढ़ी में भी अच्छाइयों का संक्रमण होना ही चाहिए। गंभीरतापूर्वक चिंतन किया जाए तो लगेगा कि समस्याओं की बढ़ोतरी में पुरानी पीढ़ी का उत्तरदायित्व भी कम नहीं है। पुरानी पीढ़ी अत्यधिक संग्रह एवं शोषण नहीं करे तो नई पीढ़ी गरीबी का शिकार क्यों होगी? यह समस्या उस वृक्ष के समान है जिसका बीजवपन अतीत में हुआ है, फल अब मिल रहा है। बीज बोने वाला सिंचाई करने वाले पर दोषारोपण करता है और फसल काटने वाला बीज बोने वाले को दोषी ठहराता है। पर सचाई यह है कि दायित्व-बोध का अभाव समस्या को उलझा ही सकता है, सुलझा नहीं सकता।

विश्लेषण के अस्थिर मानक

जहां जीवन है, भिन्नता की अनिवार्यता है। कभी ऐसा समय नहीं था जब मानव समाज पूर्णतः ज्ञानी, कठोर परिश्रमी एवं सर्वथा नैतिक ही रहा हो और कभी ऐसा समय भी संभवतः नहीं हो सकता कि मानव समाज से ज्ञान, श्रम अथवा नैतिकता का सर्वथा विलोप हो जाए। वस्तुतः यह हमारी मानसिकता एवं विश्लेषण के मापक तत्त्वों पर निर्भर करता है कि हम किसे समस्या उत्पन्न करने का दायी समझते और किसे समस्या हल करने में श्रेय-भागी मानते हैं। शोषण एवं अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह एवं क्रांति करने के कारण जहां भगतसिंह, चन्द्रशेखर आदि को हम स्वतंत्रता सेनानी कहकर गर्व से याद करते हैं, वहीं यदि आज कोई भ्रष्ट, निरंकुश और आतताई नेता के विरुद्ध आवाज उठाता है, उसे हम बागी करार देते हैं। एक पीढ़ी युगानुरूप वस्त्र पहनकर अपने को आधुनिक समझती है उसी समय दूसरी पीढ़ी उसे फैशनेबल, अपव्ययी आदि शब्दों से कोसती भी है। अपेक्षा है कि व्यक्ति जिन मानदंडों के द्वारा प्राचीन कार्यों का मूल्यांकन करता है, वर्तमान के कार्य की मूल्यवत्ता भी उसी मापक से मापे। स्वार्थ या पक्षपात से किया गया मूल्यांकन यथार्थ नहीं होता।

काल के विभिन्न खंडों को एक नहीं किया जा सकता, पर उनमें रहने वाले समाज को विखंडित होने से बचाया जा सकता है।

'जेनरेशन-गेप' की समस्या लाइलाज नहीं। ऐसे कुछ गुर खोजे जा सकते हैं जिनसे पीढ़ियों में समन्वय संभव हो। एकसूत्रता के धागे में पिरोकर नई और पुरानी पीढ़ी के पृथकत्व, विरोध एवं वैमनस्य का विष दूर किया जा सकता है। जोश और होश में सामंजस्य बैठा कर नए समाज की संरचना की जा सकती है। समन्वय के कुछ सूत्र यहां दृष्टव्य हैं—

उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण का विकास

व्यक्ति की दृष्टि समालोचनात्मक होनी चाहिए, निंदात्मक एवं खंडनात्मक नहीं। 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' यह कार्य मेरे पूर्वजों ने किया इसलिए अच्छा है और यह एक बच्चे ने किया अतः उचित नहीं—यह दृष्टि की संकीर्णता है। 'बालादपि सुभाषितम्' अच्छाई सदैव ग्राह्य है, बच्चों की है तो विशेषतः प्रशंस्य है। न वर्तमान की अच्छाई को ग्रहण करने में संकोच हो और न अतीत के दोष निकालने में। तभी स्वस्थ समाज की संरचना संभव है। सास बहू बनकर सोचे, शिक्षक विद्यार्थी बनकर सोचें, दोनों एक-दूसरे की परिस्थिति को समझें, तभी दोनों का दुराव कम हो सकता है।

वृक्ष का मूल मजबूत हो, स्थिर हो—यह जितना अपेक्षित है उतना ही यह भी अपेक्षित है कि हर वसंत में वह नई कोंपलों को धारण करे, परिधान बदले, नए-नए फल आएं, नए व्यक्तियों को छाया दें। मौलिकता की सुरक्षा गतिशीलता का ह्रास करने वाली न हो। तभी जीवंत व्यक्तित्व का निर्माण संभव है। जो व्यक्ति केवल अतीत से ही स्वयं को, अपने परिवार के किशोर एवं युवावर्ग को चिपकाए रखना चाहता है, वह प्रगति की बहती धारा में अवरोध पैदा करता है, व्यक्तित्व-गत्यात्मकता की हिंसा करता है।

कल और आज की चिंतन-शैली में अंतर है, कार्यप्रणाली में अंतर है, जीवन-पद्धति भी बदल गई है—पर इसका दायित्व किस पर है? कल की अपूर्णता ने आज को असंतुलित किया है अथवा आज के अज्ञान ने कल की उपलब्धि का विनाश किया है, इसका दायित्व-बोध जागे और सम्यक् निर्णय की क्षमता का विकास हो। विश्लेषण हो कि दोष का उत्स क्या है और उसके पोषक कौन हैं? बीज बोने वाला भी उतना ही दोषी है जितना अज्ञान से आम के स्थान पर आक की सिंचाई करने वाला। दोष किसी का और रोष किसी पर, यह स्पष्टतः दायित्व से किनारा करने की बात है—सुधारात्मक दृष्टि नहीं।

विकास के समीकरण में ज्ञान और क्रिया का समुचित योग अपेक्षित है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ज्ञान का अभिप्राय है—परिस्थितियों की सही समझ एवं उचित निर्णय-शक्ति। क्रिया का अभिप्राय है—कार्यप्रणाली में नवीन प्रविधियों के प्रयोग का साहस एवं उनका क्रियान्वयन। बुजुर्ग पीढ़ी अनुभवी एवं परिपक्व होती है। वर्षों के अनुभव और जीवनगत उतार-चढ़ाव की कसौटी से उनका निर्णय-कौशल पैना हो जाता है। युवापीढ़ी में जोश एवं 'अकड़ं करिस्सामि' का भाव उत्कट हो जाता है। यदि दोनों एक-दूसरे को समझें, लाभ उठाएं एवं कृज्ञता तथा प्रमोदभाव से एक-दूसरे के कार्यों एवं अवदानों का आदर करें तो समाज निश्चित ही उच्च शिखर का आरोहण कर सकता है।

परिष्कार की मनोवैज्ञानिक प्रणाली

युवावर्ग में स्वतंत्र चिंतन एवं उचित-अनुचित की निर्णय-क्षमता जागृत हो, इसके लिए प्रेरणा मिलती रहे—ऐसी परिस्थितियां निर्मित होनी चाहिए। यदि कल हमेशा आज पर हावी होता रहा तो क्या उसमें भावी कल के लिए स्वतंत्र निर्णय की क्षमता जागेगी? इसी के साथ दूसरी अपेक्षा है—एक-दूसरे को कोसा नहीं जाना चाहिए। गलती कल भी कर सकता है और आज भी। लेकिन कल का दोष आज के मत्थे मंढ़ना, अथवा आज के दोष में कल को धकेलना कभी उचित नहीं। जहां, जिसे, जो त्रुटि लगे वहां मधुरता से उसके परिष्कार का मार्ग सुझाया जाना चाहिए—थोपें नहीं। कल जिस काम से आनंद मिला, यदि आज वही परिस्थितियां हैं, तो वह कार्य उपयोगी हो सकता है—आज की पीढ़ी को यह बताया जा सकता है। अपेक्षा है कि कल के अनुभव आज की सफलता के लिए प्रोत्साहित करें—उसकी कमी को कुरेदकर कुंठित न करें। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटो कॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

दीक्षामृत

स्वकथन

पौष कृष्णा पंचमी सं. १९८२
5 दिसम्बर 1925

•

पौष कृष्णा पंचमी सं. २०५७
15 दिसम्बर 2000

'...तुलसी! तेरी क्या इच्छा है? क्या तू सचमुच दीक्षा लेगा? तूने पक्का सोच लिया है? अपने आपको तौल लिया है? साधु जीवन कोई खेल तमाशा नहीं है। इस विषय में तू एक बार पुनः चिंतन कर।' मोहनलालजी के आत्मीयता भरे मधुर शब्दों को सुनकर मेरा भय कुछ कम हुआ। मैं सहमता हुआ बोला—'भाईजी! मेरा विचार पक्का है। मैंने अपने आपको तौल लिया है। आप मुझे आज्ञा दें।' मेरी दृढ़ता देखकर भी उनका मन संतुष्ट नहीं हुआ। उन्होंने कहा—'तुलसी! काम बहुत कठिन है। जल्दबाजी में कोई निर्णय मत कर। तू अभी क्या समझता है? तूने देखा ही क्या है? हमने इतना संसार देख लिया, पर वैराग्य नहीं हुआ। तू इतना छोटा है। तुझे वैराग्य कैसे हो गया? दीक्षा कोई ननिहाल तो है नहीं, जब इच्छा हुई चले गए और जब चाहा लौट आए। यह तो जिंदगीभर लोहे के चने चबाना है। इस विषय में तू पूरी गंभीरता के साथ एक बार और सोच ले।...'

...संभवतः मिगसर शुक्ला चतुर्दशी का दिन था। व्याख्यान का समय था। पूज्य गुरुदेव पट्ट पर विराजमान थे। एक ओर साधु बैठे थे। दूसरी ओर साध्वियां थीं। श्रावक-श्राविकाओं की अच्छी उपस्थिति थी। मोहनलालजी भी वहां सामायिक कर रहे थे। गुरुदेव प्रवचन कर रहे थे। मैं प्रवचन सभा में गया और पूज्य गुरुदेव के निकट पहुंचा। वंदना और चरणस्पर्श कर मैंने कहा—'गुरुदेव! मुझे कुछ चीजों का त्याग करा दें।' उस समय मैं हजारों-हजारों आंखों का केंद्र बन गया। गुरुदेव ने पूछा—'क्या त्याग कर रहा है?' मैंने निवेदन किया—'मैं जीवनभर विवाह करने का तथा व्यापार के लिए परदेश (बंगाल आदि) जाने का त्याग करना चाहता हूं।...'

...मैं गुरुदेव के मुखारविंद से त्याग करने के लिए उतावला हो रहा था। किंतु उन्होंने त्याग नहीं करवाए, मुझे सोचने के लिए समय दिया। मैं तो सब कुछ सोचकर ही उनके निकट गया था। मैंने गुरुदेव की साक्षी से दोनों बातों का त्याग कर दिया। सभा में गहरी हलचल हो गई, पर मोहनलालजी कुछ नहीं बोले। मैं निश्चिंत हो गया। तेरापंथ धर्मसंघ में दीक्षा की पद्धति बहुत व्यवस्थित है। वैरागी का मन मजबूत हो, अभिभावकों की आज्ञा हो और आचार्य दीक्षा देने के लिए तैयार हों तब कहीं दीक्षा की बात आगे बढ़ती है। उस दिन मैंने बहुत बड़ा साहस किया। इसके पीछे मुनि चम्पालालजी का पूरा प्रोत्साहन था।...

...सब प्रकार की अनुकूलताएं होने पर भी मोहनलालजी का मौन मुझे बेचैन कर रहा था। गुरुदेव की कृपा, मुनि मगनलालजी के चातुर्य तथा गांव के मान्य लोगों की प्रेरणा से मोहनलालजी भी तैयार हो गए। मिगसर शुक्ला पूर्णिमा के दिन वे मां को साथ लेकर खड़े हुए और बोले—'गुरुदेव! बहन लाड की भावना कई वर्षों से दीक्षा की है। तुलसी की भावना भी पक्की है। आप इन्हें योग्य समझें तो दीक्षा का आदेश देने की कृपा करें।' गुरुदेव की चिंतन-मुद्रा को देखकर मुनि मगनलालजी खड़े हुए। उन्होंने कहा—'अंदाता! मोहनलालजी ने पूरी समझदारी के साथ अपनी भावना आपके चरणों में निवेदित कर दी है। घर के बच्चों को निकालकर देना कोई कम बात नहीं है। गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास होने पर ही ऐसी बात कही जाती है। अब कृपा करानी आपके हाथ में है।...'

...गुरुदेव ने सबके सामने मुझसे दो-चार बातें पूछीं। उपयुक्त अवसर देखकर उन्होंने पौष कृष्णा पंचमी के दिन हमें दीक्षित करने की स्वीकृति प्रदान की। उस समय मैं कुछ बोल नहीं पाया, पर मुझे जो प्रसन्नता हुई, उसे मैं आज भी शब्द नहीं दे सकता।

❖

शाम के समय घर पर रहना बहुत ही चिढ़ाने वाला होता था। सरयू के रेतीले किनारों और मणि की याद आते ही उसने ठंडी सांस भरी। पिताजी ने परीक्षा समाप्त होने तक उसे घर से बाहर जाने को मना किया था। कई बार उसे लगा कि वह पिताजी को बता दे कि वह उनके बारे में क्या सोचता है। लेकिन जाने क्यों, हम कोई काम करने के लिए पूरी तरह तैयार होकर भी कर नहीं पाते। उसे सिर्फ एक ही हफ्ते के लिए तो यह सब सहना है।... इस विचार ने उसे नई शक्ति दी कि यह पीड़ा उसे ज्यादा से ज्यादा एक हफ्ता झेलनी पड़ेगी।

परीक्षा से पहले

• आर. के. नारायण •

एक

अप्रैल में परीक्षाओं से केवल दो सप्ताह पहले स्वामीनाथन को लगा कि पिताजी का मिजाज बहुत खराब होता जा रहा है। वे बात का बतंगड़ बनाने लगे थे, जैसे उन्होंने अचानक अपने बेटे को तंग करने का फैसला कर लिया हो। अगर वह दादी से गपशप कर रहा होता है तो उससे कहा जाता है, 'याद रखो, परीक्षा नजदीक है। तुम्हारी दादी इंतजार कर सकती है लेकिन परीक्षा इंतजार नहीं करेगी।' अगर वह मां के पीछे-पीछे भागता नजर आएगा तो उसे ढुंढ़वाकर पढ़ाई करने का आदेश दिया जाएगा। अगर तालुका दफ्तर के घंटे के नौ बजाने के बाद उसकी आवाज कहीं सुनाई देगी तो पिता के कमरे से आवाज आएगी, 'स्वामी, तुम अभी सोए नहीं? तुम्हें सुबह जल्दी उठना और पढ़ना है।' स्वामीनाथन के जीवन का यह बहुत कठिन समय था। एक दिन उसने चिढ़कर पिता से कहा, 'आप परीक्षा को लेकर इतने परेशान क्यों हैं?'

'तुम फेल हो गए तो?'

'मैं फेल नहीं हो सकता।'

'नहीं हो सकते, लेकिन तब, जब तुम पढ़ोगे और सवालों का ठीक जवाब दोगे। मान लो कि तुम फेल हो जाते हो और तुम्हारे सहपाठी तुम्हें पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं तो? जिस दिन परीक्षा खत्म हो उस दिन से फिर अपनी मनमर्जी के काम कर सकते हो।'

स्वामीनाथन ने सोचा, मान लो मटर, मणि, राजम और शंकर मुझे छोड़कर दूसरी फार्म-ए में चले गए तो? पिताजी ठीक कहते हैं। फिर पिता ने और भी डराने वाली बात कही, 'मान लो, तुमसे नीचे के पांचवीं के लड़के तुम्हारे सहपाठी बन गए, तो?'

स्वामीनाथन ने आधा घंटा दशमलव के सवालों में लगाया।

दो

स्कूल में सभी परीक्षा को लेकर चिंतित दिखाई दिए। कई सप्ताहों से किसी ने शंकर के चेहरे पर मुस्कान नहीं देखी थी। सोमू बहुत फुर्तीला हो गया था और सिर्फ काम की बात करता था। मटर मजाक को समझने में काफी देर लगाता था और खुद तो कभी-कभार ही कोई चुटकुला सुनाता था। जहां तक राजम की

बात थी, वह पहली घंटी बजते ही स्कूल आ जाता था और आखिरी घंटी तक बैठा रहता था। अध्यापकों की सारी बातों को नोट करता था और मुश्किल से एक दर्जन शब्द ही बोलता था। मणि भी चिंतित दिखने लगा था और मौका पाकर शंकर को अलग ले जाकर, पाठ पढ़ते समय उठी शंकाओं को दूर करता था। वह स्कूल-क्लर्क के पीछे-पीछे लगा रहता था। आमतौर पर माना जाता था कि क्लर्क सब कुछ जानता है और परीक्षा के प्रश्न-पत्रों की भी उसे पूरी जानकारी होती है।

एक दिन मणि क्लर्क के घर गया और ताजे बैंगनों से भरा थैला उसके चरणों में रखा। क्लर्क खुश हो गया और उसने मणि को अंदर ले जाकर स्टूल पर बिठाया।

क्लर्क बहुत अपनापन दिखा रहा था और मणि को लगा कि इस समय वह जो भी पूछेगा, वह बता देगा। क्लर्क पास बैठी अपनी मरियल-सी बिल्ली के बारे में कुछ बड़बड़ा रहा था। उसकी अधिकांश बातें मणि के दिमाग में नहीं जा रही थीं। वह बड़ी बेचैनी से प्रश्न-पत्रों का प्रसंग छेड़ने का मौका ढूंढ़ रहा था। क्लर्क अब बिल्ली का प्रसंग बदलकर मक्खियों की बात करने लगा था। लेकिन मणि को इससे फर्क नहीं पड़ा, जो उसके रुकते ही अपनी बात कह डालने की ताक में था। क्लर्क ने कहा, 'मक्खियों को कभी आंख के पास नहीं भिनभिनाने देना चाहिए। आंख आने की बीमारी की जड़ यही हैं। जब तुम्हारी आंख आए तो तुम एक ही काम कर सकते हो, कच्चे प्याज का टुकड़ा ले लो।'

मणि को लगा कि क्लर्क कभी रुकेगा नहीं, तो वह बात काटकर बोल पड़ा, 'सर, परीक्षा में एक हफ्ता रह गया है...'

क्लर्क कुछ सकपकाकर बोला, 'हां, हां, एक हफ्ता और है... तुम्हें ध्यान से रस वाला, बड़ा प्याज चुनना होगा, छोटा प्याज नहीं...'

'सर...', मणि बीच में रस भरे प्याज की बात अनसुनी करके बोला, 'मैं परीक्षा के बारे में बहुत चिंतित हूं।' उसने दयनीय चेहरा बनाया।

'मुझे खुशी है। ध्यान से पढ़ोगे तो जरूर पास हो जाओगे।' क्लर्क ने भविष्यवक्ता की तरह कहा।

'सर मैं बहुत परेशान हूं। परीक्षा की बात सोचते-सोचते रातभर नींद नहीं आती है। अगर आप कुछ महत्त्वपूर्ण सवाल बता दें... पढ़ने को ढेर सारी चीजें हैं। मैं ऐसी चीजें नहीं पढ़ना चाहता हूं जो परीक्षा के लिए जरूरी न हों।' इस तरह वह घुमा-फिराकर बातें करता रहा। क्लर्क ने समझ लिया कि वह क्या कहना चाहता है। उसने कहा, 'अपने सारे पाठ पढ़ो, पास हो जाओगे।' मणि समझ गया कि घुमा-फिराकर बात करना उसके वश की बात नहीं है, अतः उसने साफ-साफ कहा, 'सर, मुझे परीक्षा में आने वाले कुछ प्रश्न बता दीजिए।'

क्लर्क ने कहा, उसे प्रश्न-पत्रों की कोई जानकारी नहीं है। मणि ने चापलूसी करते हुए कहा, 'आप नहीं जानेंगे तो कौन जानेगा?' थोड़ी और खुशामद करने पर क्लर्क कुछ 'बहुमूल्य संकेत' देने के लिए राजी हो गया। बावजूद इस बात के कि उसे पहली फार्म की पाठ्य-पुस्तकों की जानकारी नहीं थी, उसने सलाह दी, 'तुम्हें भूगोल पर खास ध्यान देना चाहिए। शायद तुम्हें मानचित्र बनाने पर अधिक मेहनत करनी पड़ेगी। और गणित में इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हें हर रोज पांच सवाल करने हैं और तब तुम्हारे लिए गणित इतना आसान हो जाएगा जैसे केला निगलना।'

'और अंग्रेजी...?'

'उसकी चिंता मत करो। क्या तुमने सारे पाठ पढ़े हैं?'

'जी सर...' मणि ने पूरे विश्वास के बिना कहा।

'फिर तो ठीक है। तुम्हें सभी जरूरी पाठ दोबारा पढ़ने चाहिए और समय मिले तो एक बार फिर पढ़ने चाहिए। बस, इतना काफी होगा।'

इन बातों से मणि को बहुत संतोष मिला। घर जाते समय मन ही मन मुस्कराकर उसने कहा—बैंगन पर चार आने खर्च करना बेकार नहीं गया।

तीन

मणि को अपने पर गर्व हुआ। मन ही मन उसे अपने सहपाठियों पर तरस आया जो श्रम को कम करने वाले बहुमूल्य संकेतों के बिना धैर्य से काम किए जा रहे थे। उसे लगा कि उसे स्रोत की जानकारी दिए बिना

स्वामीनाथन को यह राज बताना चाहिए। वे स्कूल से घर जा रहे थे। अलग होने से पहले वे कुछ देर विनायक मुदाली और ग्रोव स्ट्रीट के चौराहे पर रुके और बातें करने लगे। मणि ने कहा, 'मुन्ना! परीक्षा में क्या आ रहा है, इसका कोई अंदाजा है तुम्हें?'

'पाठ्य-पुस्तकों के बाहर से तो कुछ आएगा नहीं।' मणि ने इस मजाक की परवाह नहीं की। वह बोला, 'मेरी बात ध्यान से सुनो। जानते हो, पिछली रात सात से दस बजे मैंने क्या किया?'

'मूंगफलियां खाई होंगी।'

'बेवकूफ, मजाक की बात नहीं है। मैंने दो मानचित्र भारत के, दो अफ्रीका के और एक यूरोप का बनाया।'

'यह कहो न कि एटलस के सारे मानचित्र बना डाले।'

स्वामी की टिप्पणी मणि को अच्छी नहीं लगी, फिर भी वह बोला, 'हो सकता है... लेकिन मैं यह काम एक निश्चित उद्देश्य से कर रहा हूं।... हो सकता है, मुझे परीक्षा में आने वाले एक-दो सवालों की जानकारी हो। लेकिन किसी को बताना मत, नहीं तो मैं मुसीबत में पड़ जाऊंगा।'

स्वामीनाथन उसकी गंभीरता से प्रभावित हुआ और उसने उससे सीख ग्रहण की।

चार

घर पहुंचने पर स्वामीनाथन को कुछ ऊब-सी हुई। मां घर पर नहीं थी। दादी बातें करने के मूड में नहीं थी। उसने दादी को दिनभर की कुछ मजेदार घटनाएं सुनाईं। 'दादी, जानती हो आज स्कूल में क्या हुआ? फर्स्ट-सी के एक लड़के ने दूसरे की बांह में चाकू मार दिया।'

'क्यों?' दादी ने बिना उत्साह दिखाए पूछा।

'वे आपस में दुश्मन थे।' यह जानकर कि दादी पर इसका कोई असर नहीं हुआ, उसने उस दिन की दूसरी बड़ी घटना सुनाई, 'दादी, दादी, एक और बात हुई। हैडमास्टर को दरवाजे की चौखट से ठोकर लगी और उनका पांव खून-खून हो गया। सारा दिन वे स्कूल में लंगड़ाते हुए चलते रहे। वे तीसरी फार्म की क्लास भी नहीं ले सके और लड़कों को छुट्टी मिल गई। उनके तो मजे आ गए।'

'अच्छा!' दादी ने पूछा।

स्वामीनाथन ने माथा पीटा और यह मान लिया कि दादी सोने के मूड में है। वह थोड़ी देर अपने छोटे भाई के झूले के पास टहलता रहा। हालांकि शुरू-शुरू में वह अपने इस भाई की शक्ल-सूरत और संभावनाओं के बारे में उत्साहित नहीं था, अब दिनो-दिन उसकी भाई में रुचि बढ़ने लगी थी। अब वह छह महीने का हो गया था और सुंदर लगने लगा था। उसकी कई उपलब्धियां थीं। किसी के दिखाई पड़ने पर वह जोर-जोर से चिल्लाने लगता था। वह अपनी मुट्ठियां मुंह में डाल लेता था और कुहनी तक अपनी गोल-मटोल बांह को गीला कर लेता था। वह बड़ी जोर से हवा में पैर चलाता था। बार-बार मुस्कराकर अपने लाल मसूड़े दिखाता था। स्वामीनाथन को अब उसकी सब बातें प्यारी लगती थीं। वह घंटों झूले के किनारे बैठकर उसे 'स्वामीनाथन' बोलना सिखाता था। नन्हा भाई गले से कुछ आवाज निकालता था और स्वामीनाथन खुशी से चीख पड़ता था जैसे कि वह उसी का नाम ले रहा हो।

उसने झूले में झांककर देखा और यह जानकर निराश हो गया कि नन्हा भाई सोया हुआ है। वह यह सोचकर जोर से गला साफ करके खांसा कि उसका भाई जाग जाए। लेकिन वह सोया रहा। स्वामीनाथन ने थोड़ी देर इंतजार किया, फिर दबे पांव चला गया। उसे याद आया कि उसे सोने देना ही अच्छा है, क्योंकि नींद से जागने पर वह हमेशा घंटों तक घर में कुहराम मचाए रहता है।

शाम के समय घर पर रहना बहुत ही चिढ़ाने वाला होता था। सरयू के रेतीले किनारों और मणि की याद आते ही उसने ठंडी सांस भरी। पिताजी ने परीक्षा समाप्त होने तक उसे घर से बाहर जाने को मना किया था। कई बार उसे लगा कि वह पिताजी को बता दे कि वह उनके बारे में क्या सोचता है। लेकिन जाने क्यों, हम कोई काम करने के लिए पूरी तरह तैयार होकर भी कर नहीं पाते। उसे सिर्फ एक ही हफ्ते के लिए तो यह सब सहना है।... इस विचार ने उसे नई शक्ति दी कि यह पीड़ा उसे ज्यादा से ज्यादा एक हफ्ता झेलनी पड़ेगी।

वह अपनी मेज पर जा बैठा और एटलस निकाल ली। उसने यूरोप का राजनीतिक मानचित्र खोला और उसे ध्यान से देखने लगा। उसे यह सोचकर आश्चर्य हुआ कि इस टेढ़े-मेढ़े देश में लोग कैसे रहते होंगे! खाड़ी की तरह संकरी जगहों में रहने वाले लोगों का आकार-प्रकार कैसा होगा और वे संकरी भूमि के बीच दम घुटने से कैसे बचते होंगे! फिर एक और गुत्थी, जिस पर वह अक्सर सोचता था, उसे परेशान करने लगी—इन मानचित्र बनाने वालों ने कैसे जाना कि किसी देश का आकार कैसा है? उन्हें कैसे पता चला कि यूरोप ऊंट के सिर जैसा है? शायद उन्होंने किसी ऊंचे मीनार पर खड़े होकर देखा हो, फिर उसकी नकल की हो। उसने सोचा कि शायद टाऊन हाल की चोटी पर खड़े होकर वह भारत को वैसा देख सके, जैसा वह मानचित्र में दिखाई देता है। वह टाऊन हाल की छत पर कभी नहीं गया था और न ही जाना चाहता था। रंगा दर्जी कहता था (हालांकि स्वामीनाथन इस पर विश्वास नहीं करता था) कि टाऊन हाल की सबसे ऊपर की मंजिल में एक जेलखाना था, जहां पठान बच्चों को फुसलाकर ले जाते थे।

विचारों के ताने-बाने से अपने को अलग करके उसने यूरोप का मानचित्र बनाया। फिर मूल मानचित्र और खुद के बनाए मानचित्र को साथ-साथ रखकर देखा और इतना सही मानचित्र बनाने के लिए अपने को बधाई दी, यद्यपि उसके मानचित्र की बाहरी रेखा से एक अजीब-सा जानवर बन रहा था, जिसका आधा चेहरा सांड का और आधा ऊंट का था।

सात बज गए थे। पिता घर लौट आए थे। वे अपने बेटे को काम में लगा देखकर बहुत खुश हुए। मानचित्र पर नजर डालकर उन्होंने कहा, 'बेटे, यह बहुत अच्छा बना है।' स्वामीनाथन को लगा कि वह क्षण उसकी सारी यातनाओं का पुरस्कार है। उसने पन्ने पलटे और अफ्रीका का मानचित्र खोल लिया।

पांच

परीक्षा से दो दिन पहले वह जरूरी चीजों की सूची बनाने बैठ गया। एक कागज पर उसने लिखा :

बगैर रूल का सफेद कागज	20 पन्ने
निबें	6
स्याही	2 शीशी
क्लिप	—
पिन	—

पेंसिल को दांतों में चबाते हुए उसने सूची दोबारा पढ़ी। उसे सूची बहुत निराशाजनक लगी। उसने सोचा भी नहीं था कि उसकी जरूरतें इतनी कम हैं। जब वह सूची बनाने बैठा था तो उसने सोचा था कि दो-तीन पन्ने भर जाएंगे। लेकिन कागज पर अभी पांच ही लाइनें लिखी गई थीं। उसने सूची को फिर ध्यान से देखा। बगैर रूल का सफेद कागज—20 पन्ने। उसने अपने से पूछा, बगैर रूल का कागज ही क्यों? यह बात तो तय थी कि वह जितनी भी कोशिश कर ले, कागज के दाएं कोने तक पहुंचते-पहुंचते लाइन नीचे मुड़ जाएगी। परीक्षा में यह ठीक नहीं। उसे लाइनदार कागज भी अपने पास रखने चाहिए। और निबें? परीक्षा के लिए कितनी निबें चाहिए? एक? दो? पांच?...स्याही के कालम ने भी उसे परेशानी में डाला। कितनी स्याही खरीदनी चाहिए? फिर क्लिपों और पिनों को लेकर उलझन हुई। उसे इस बात का अंदाजा नहीं था कि कितने क्लिपों और पिनों की जरूरत पड़ेगी, बल्कि उसे यह भी पता नहीं था कि ये चीजें कम से कम कितनी मात्रा में खरीदी जा सकती हैं? क्या बिना नाराज किए दूकानदार से 6 पिनें और 6 क्लिप मांगे जा सकते हैं?

अंत में संशोधित सूची इस प्रकार बनी :

बगैर रूल का सफेद कागज	20 पन्ने
रूलदार कागज	10 पन्ने
काली स्याही	1 शीशी
क्लिप	12
पिन	12

सूची अब भी संतोषजनक नहीं थी। विचार करने के बाद उसने उसमें 'कार्ड बोर्ड पैड—एक' और 'एक रुपया अतिरिक्त खर्च के लिए' जोड़ा।

पिताजी काम में व्यस्त थे। स्वामीनाथन सूची हाथ में लेकर उनके सामने जा खड़ा हुआ। पिताजी काम में

खोए हुए थे और उन्हें पता ही नहीं चला कि स्वामी खड़ा है। स्वामीनाथन को अचानक लगा कि पिता के पास किसी और समय आना चाहिए। अगर वह खाना खाने के बाद बात करेगा तो पिताजी सहानुभूति से सुनेंगे। दबे पांव वह बाहर निकला। अभी दरवाजे से बाहर निकला ही था कि पिताजी ने आवाज लगाई, 'कौन है?' उनकी आवाज में मिठास नहीं थी। 'मैं पूछता हूं कौन है?' पिताजी की दहाड़ सुनाई दी और इससे पहले कि स्वामीनाथन निर्णय कर सके कि निकल भागूं या रुककर जवाब दूं, पिताजी क्रुद्ध मुद्रा में उसके पास आ खड़े हुए।

'तुम थे?'

'जी।'

'अरे बेवकूफ, 'कौन है, कौन है' चिल्लाते-चिल्लाते मेरा गला बैठ गया और तुम चुप्पी साधे रहे? इस घर में तो एक सैकेंड के लिए भी चैन नहीं है। मैं यहां काम कर रहा हूं और हर पांचवें सैकेंड कोई न कोई अपना बेवकूफी भरा सवाल लेकर अंदर चला आता है। यह कैसे चलेगा? जाओ, अपनी मां से कहो कि वह मेरे कमरे में न आए। अगर तेल बेचने वालों और सब्जी बेचने वाली औरतों की पूरी फौज भी पैसा मांगने आई हो तब भी मैं परवाह नहीं करूंगा। उससे कहो कि उन्हें बाहर से ही भगा दे। तुम्हारी मां सोचती है... यह तुम्हारे हाथ में क्या कागज है?'

'कुछ नहीं पिताजी,' स्वामीनाथन ने जवाब दिया और जल्दी से कागज अपनी जेब में डाल लिया।

'क्या है यह?' पिताजी ने ऊंची आवाज में कहा और कागज छीन लिया। त्यौरियां चढ़ाते हुए कागज पढ़ा और वापस अपनी कुर्सी पर आ बैठे।

'यह क्या चीज है?'

स्वामीनाथन को आवाज निकालने के लिए दो बार खांसना पड़ा, 'यह... मेरी... परीक्षा की सूची है।'

'कैसी परीक्षा-सूची?'

'मेरी परीक्षा परसों शुरू हो रही है, आप को पता ही होगा।'

'और फिर भी तुम आवारा गधे की तरह घर में इधर-उधर घूम रहे हो। और यह क्या बेकार की सूची है? क्या तुम समझते हो कि रुपये, आने, पैसे आसमान से गिरते हैं?' स्वामीनाथन ठीक ऐसा नहीं सोचता था, लेकिन वह जो भी सोचता था वह लगभग ऐसा ही था। पिताजी ने मेज की दराज खींची और उसमें झांककर देखा, 'तुम्हें जो भी चाहिए मुझसे ले सकते हो। क्लिप मेरे पास नहीं हैं और तुम्हें भी उनकी जरूरत नहीं है। और पैड? पैड क्यों चाहिए? क्या तुम्हारे स्कूल में डेस्क नहीं है? हम तो स्लेटों से ही काम चला लेते थे। आजकल तुम्हें पेन भी चाहिए, कागज भी चाहिए और कागज रखने के लिए पैड भी...' उन्होंने खौफनाक लाल पेंसिल निकाली और 'पैड' को सूची में से काट दिया। सूची लगभग फट गई। उन्होंने कागज स्वामीनाथन की ओर फेंक दिया। स्वामीनाथन ने सूची को बड़ी उदास नजरों से देखा। कितने मजे से उसने सोचा था कि वह पैसे खनखनाता अमीर मार्ट में जाएगा और ये चीजें खरीदेगा।

वह बाहर जा ही रहा था कि पिताजी ने उसे वापस बुलाया और कहा, 'हाल से बच्चे को, भगवान के लिए, कहीं और ले जाओ। मैं उसका चीखना-चिल्लाना सहन नहीं कर सकता।... उसे हो क्या गया है?... तुम्हारी मां बहरी हो गई है या उसे किसी की चिंता ही नहीं है?... बच्चा रोते-रोते बेहोश हो जाए, लेकिन उसे परवाह नहीं है...।' ❖

बातचीत प्रिय हो, पर ओछी न हो; चुहल हो तो बनावट लिए न हो; स्वच्छंद हो पर अश्लील न हो; विद्वत्तापूर्ण हो पर दंभयुक्त न हो; अनोखी हो पर असत्य न हो।

—शेक्सपियर

जैन भारती पाठक पहेली

जैन भारती के प्रति बढ़ती अभिरुचि को देखते हुए मार्च अंक से 'जैन भारती पाठक पहेली' शुरू की गई है। हमें आशा है, पाठकगण इसमें दिलचस्पी लेंगे और पाठकीय अभिरुचि का विकास करेंगे।—सं.

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के सितम्बर, 2000 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के सितम्बर अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 3 जनवरी, 2001 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम फरवरी, 2001 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

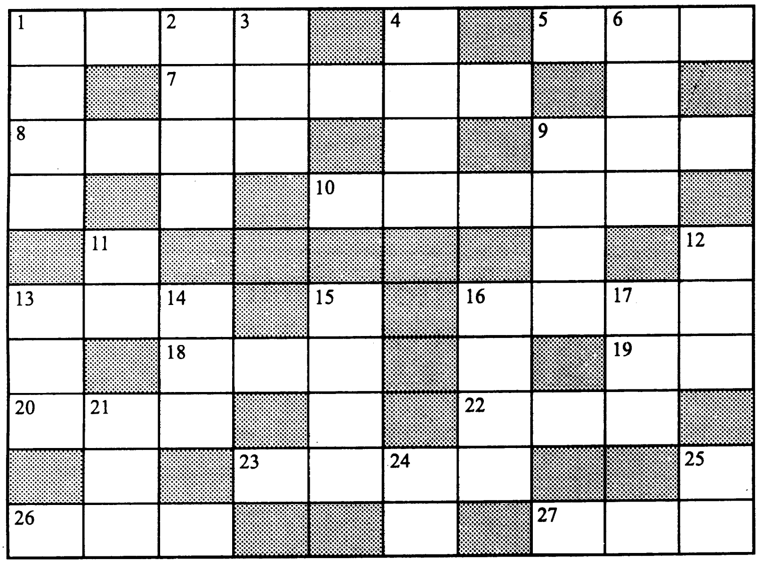

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली - 0010

नाम प्रतियोगी...उम्र............

पूरा पता...

....

....

बाएं से दाएं

1. यह ज्ञान न प्रत्यक्ष के द्वारा होता है न.......द्वारा [4]
5. महारानी भुवन.......का पुत्र सबसे बड़ा था। [3]
7. कई बार एक अवसर पर कही गई बातों को.......करते हुए, दूसरे [5]
8. हाथी.......में स्नान करने के बाद [4]
9. मौन, स्वाध्याय, ध्यान.......का अभ्यास [3]
10. मंद और तीव्र आवेश के अनुसार कर्म बंधन की प्रक्रिया ....चलती रहती है। [5]
13. क्षेत्र गणित, त्रिंशति, क्षेत्र....... [3]
16. लेकिन जिस तीव्रता से वक्त.......ले रहा है [4]
18. विभिन्न प्रकार की......पद्धतियां [3]
19. शरीर में हल.......बढ़ जाती है [2]
20. मुनि ने.......भाव से उत्तर दिया, [3]
22. वर्गमूल न होने के.......के माध्यम से [3]
23. लेकिन मैं जो ठूंठ हूं.......और गल जाता हूं। [2,2]
26. ....पिघलने लगा। [3]
27. ....में था तो कहां था, कौन मेरे संबंधी थे, [3]

ऊपर से नीचे

1. उन्हें भी मैं इस.......पर याद किए लेता हूं। [4]
2. क्षमा, समझौता और मैत्री—ये जीवन के महान गुण हैं।....... यही है। [4]
3. तब अहिंसा की कई सीमाएं.......आने लगती हैं। [3]
4. बड़े से बड़े अपराध को भी सहसा भूल जाओ।.......को याद करो। [4]
6. दबाव के लिए.......बनाना आवश्यक है, [4]
9. पर एक काम करो कि.......का काम, [4]
11. तू मुझे.......करना। [2]
12. इस दुनिया का यह.......नियम है [3]
13. स्वाभाविकता, सरलता,........ता [3]
14. और.......में वह निंदित होता है। [3]
15. वह किरायेदार की तरह गृहमालिक.......बैठा है। [4]
16. धर्म और संस्कृति.......शताब्दियों तक बेचा है। [4]
17. अली ने कहा—कुरान का....... है [3]
21. क्रोध को.......करना और क्षमा को धारण करना महातप है। [3]
24. इसी प्रकार प्रत्याख्यान क्रोध.......की रेखा के समान होता है, [2]
25. अपरिग्रह.......है, धनोपार्जन अव्रत है। [2]

जैन भारती पाठक पहेली - 0008

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 अ	ल	2 ग		3 म	शी	4 न		5 म	न
स		6 र	ह	न		7 ज	ग	त	
8 र	9 से	ल		10 न	11 ग	र		भे	
	व				ण		12 क	द	13 म
14 मा	न	15 ते		16 अ	ध	र्म			हा
र		17 र	ह	क	र		18 बे	19 भा	न
20 क	21 ल	ह		ब				र	
	गा		22 आ	क	23 र		24 स	त	25 ह
26 आ	क		लो		27 म	सी	ह		न
28 प	र		29 क	र	ण		30 न	य	न

प्रथम चयनित विजेता—हेमराज सेठिया, बैंगलोर

अन्य दस चयनित विजेता

1. अमित कुमार पुगलिया, जाजपुर रोड (उड़ीसा)
2. कौशिक पदमराज सुराणा, औरंगाबाद
3. सुनीता देवी समदड़िया, जलगांव
4. निर्मला कांकरिया, कोयम्बटूर
5. शशीकान्त खेमचन्द मोदी, भाभर (गुजरात)
6. कमलेश जैन, बालोतरा
7. नम्रता दूगड़, ब्यावर
8. कल्पना गादिया, पाली
9. दुल्हराज रायसोनी, आऊवा (राजस्थान)
10. धर्मेन्द्र डाकलिया, गंगाशहर

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

With best compliments from :

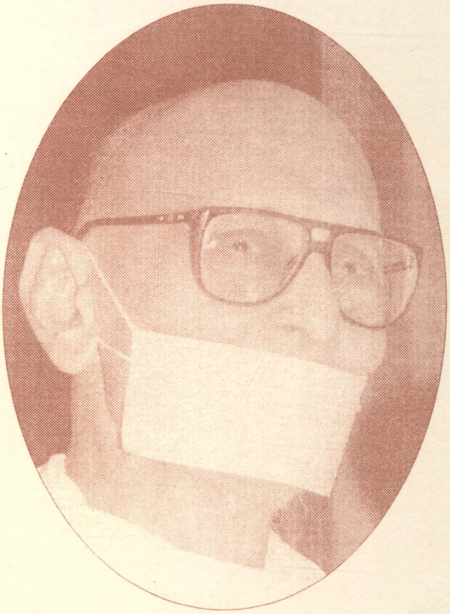

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT – SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

•

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

जैन भारती, दिसम्बर, 2000 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर/11/48/2000

श्रद्धा की प्रतिमूर्ति

श्रीमती मनोहरी देवी बैद

जन्म : 21 जून, 1903 स्वर्गवास : 21 मार्च, 1975

Baid Engineers (P) Ltd.

H-8, Civil Township, **Rourkela** 769004

Phone : 503851

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।